पुस्तक-भवन सीरीज संख्या २७

पश्चात्ताप के पथ पर

[एक मौलिक कहानी-संग्रह]

लेखक

श्री विश्वेश्वर दयाल त्रिपाठी

प्रकाशक

पुस्तक-भवन

चौक, काशी

प्रथम संस्करण] [मूल्य १॥)

श्रद्धेय कविवर, रायबहादुर

पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी 'श्रीवर'

के

कर-कमलों में

सस्नेह तथा सादर

स

म

र्पि

त

—विश्वेश्वर

अनुक्रमणिका

पश्चात्ताप के पथ पर

माघ का महीना था। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। जिस दिन जरा हवा सनकने लगती उस दिन आफत का पहाड़ आ टूटता। लोग घर के बाहर निकलने की हिम्मत न करते। निकलते भी तो काल का ग्रास हो जाने का डर बना रहता। परमात्मा की माया बड़ी अपरम्पार है। उसके कामों में दखल देना बड़ी भारी मूर्खता है, जिसका जीवन भर पछताने से भी प्राय-श्चित्त नही हो सकता। जैसे जैसे सूर्य आकाश मे ऊँचा चढ़ता जाता था, मालूम पड़ता था गर्मी कम हो रही है। वही गर्मी जो गरमी के दिनों में बदन को पसीने से तर कर देती थी, इन दिनों एक चिनगारी की गर्मी जान पड़ती थी।

धन्य है जगनू जो कड़ी ठंड मे भी केवल एक मिर्जई पहने अपने टूटे-फूटे घर से निकलकर तड़के ही अपनी शराब की दुकान पर आ बैठता था। बैठता भी कैसे नहीं, वही तो उसके जीविकोपार्जन का एक मात्र साधन थी। जबसे उसकी पहली स्त्री का देहान्त हुआ था वह इसी कार्य को करता चला आ रहा था।

हरसाल शराब का ठेका नीलाम किया जाता। आसपास के बहुत से लोग एक से एक तुर्रवाले नियत स्थान पर जा डटते। जगनू बहुत धनी न था। उसमें किसी काम को करने की हिम्मत थी, मन था और साथ ही साथ थोड़ा रुपया भी। उसे घमंड तो छू

तक न गया था। वह सुन चुका था और अपनी आँखों देख चुका था कि घमंडी का सर हमेशा नीचा होता है।

वह जहाँ रहता था, वह गाँव तो बहुत बड़ा न था, पर मामूली अच्छा खासा था। उस गाँव के इलाके में करीब बीस-बाईस पुरवों का एक समूह आ जाता था। केवल हसनपुर में ही शराब की कोठी होती। हर सुबह और शाम कोठी पर लोगों की मंडली आ जाती—नंगे, लुच्चे और शरीफ भी। जगनू शराब की बिक्री से अच्छा रुपया कमाता।

ठेके की मीयाद खतम हो रही थी। इस वर्ष ठेके के नीलाम में बड़ी होड़ाहोड़ी होने की खबर थी। लोग जगनू की जड़ खोदने पर तुले हुए थे, परन्तु वह केवल ईश्वर पर भरोसा करता था। किसी के कहने सुनने की उसे परवाह न थी। दिलसुख, जगनू का पक्का दोस्त था। वह हमेशा उसीकी सलाह से सब काम किया करता था।

आज शराब का ठेका नीलाम किया जाने को था। लोग अपने अपने हमजोलियों के साथ निश्चित स्थान पर जा पहुँचे। जगनू का कोई गुट्ट विशेष न था। वह भी अपने मित्र दिलसुख के साथ नियत स्थान पर जाकर हाजिर हुआ। ठेका नीलाम किया जाने लगा। यहीं जगनू के भाग्य की कली खिलने को थी। उसके जीवन का नव प्रभात शुरू होने को था या सौभाग्य-सूर्य डूबना था। देखना था ऊँट किस करवट बैठता है। लोग बोलियाँ बढ़ाते चले जा रहे थे। जगनू भी उनसे पीछे न रहता। वह दिलसुख की सम्मति से बोली बोलता जाता। होड़ाहोड़ी में नीलामी बोली ऊँची चढ़ चुकी थी। किसी की हिम्मत न थी कि वह और कुछ

कहता, लेकिन जगनू हिम्मत कर गया, बोली बढ़ा दी। उसकी बोली को दुहराने वाला कोई न था। ठेका नीलाम हो गया। जगनू के विरोधियों के छक्के छूट गये। शर्म से मुँह नीचा किये सभी ने अपने अपने घरों का रास्ता लिया।

जगनू का फिर वही कार्यक्रम शुरू हो गया। लोग आते—शाम सुबह दोनों वक्त; परन्तु उसकी दूकान पर वह रौनक न होती जो पिछले वर्षों हो चुकी थी। ग्राहकों की संख्या कम होती जाती। जगनू दुकान पर बैठा बैठा हमेशा यही सोचा करता कि क्या बात है कि उसकी आमदनी बहुत कम होती जा रही है! बेचारा इसी चिन्ता मे रात-दिन घुला करता। दिन प्रतिदिन उसका स्वास्थ्य भी गिरता जाता। अब उसका वह हँसमुख चेहरा न था और न उसपर लाली ही रह गयी थी।

आज वह सुबह से शाम तक दूकान खोले बैठा रहा। कोई ग्राहक न आया। उसे बड़ा ताज्जुब हुआ और साथ ही साथ रंज भी। दुकान बन्द कर दी। भूख लगी थी, परन्तु आज सीधे घर न जा दिलसुख के मकान की ओर उससे मिलने के इरादे से चला। परन्तु उसके घर पहुँच कर पता चला कि वह खाना खाकर थोड़ी ही देर हुई गाँव में कहीं गया है। जगनू भी टहलता हुआ उससे मिलने के लिए आगे बढ़ा। चिन्ता इतनी अधिक बलवती हो गयी थी कि वह खाना बिल्कुल ही भूल गया था। पाँच मिनट में ही वह एक पुराने पीपल के पेड़ के नीचे जा पहुँचा। वहाँ एक छोटी सी मड़ैया पड़ी थी। सामने आग की भट्ठी जल रही थी। पास ही हुक्का रखा था। लोग दोहर ओढ़े ताप रहे थे। बीच बीच में हुक्के का दम लगाते और इधर उधर

की बातें भी करते जाते थे। दिलसुख भी इस जमाव में था। जगनू को आता देखकर उसने सबको राम राम किया और उसके साथ हो लिया। जगनू घबड़ाया हुआ मालूम देता था।

दिलसुख ने झट पूछा—'भाई जगनू क्या बात है? आज तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ सा कैसा दीख पड़ रहा है?'

जगनू ने उसे सारी बातें बता दीं। दोनों सोच-विचार में पड़ गये। कुछ देर बाद दिलसुख बोला—'अभी अभी तो दिलीपसिंह बुरी भली बक रहे थे। पीपल के पेड़ के नीचे आये थे। खूब चढ़ाये हुए थे। आखिर उन्हें शराब मिली कहाँ से? हो सकता है उनके पास पहले की मोल ली हुई रखी हो।'

पर जगनू ने इस पर आपत्ति की और कहा—'भाई, मुझे तो कुछ शंका होती है। यही आदमी था जो ठेके के नीलाम के समय मेरा सबसे अधिक विरोधी था। इसी ने आखीर की बोली बोली थी। पर भैया ईश्वर की दुआ से मैंने रकम बढ़ा दी और फिर उनकी हिम्मत न हुई कि उसे दोहराते! मुमकिन है इन्हीं ने हमारी शराब का बहिष्कार करने की सोच रखी हो। परन्तु यह तो निश्चित है कि वे बगैर शराब पिये एक दिन भी नहीं रह सकते। आखिर फिर शराब आती कहाँ से होगी?'

दिलसुख—'भैया ऐसा न हो कि ये खुद बनाते हों।'

जगनू—'हो सकता है। मुझे भी शक होता है।'

दिलसुख—'तो फिर क्या किया जाय? कहो तो ऐसी हिकमत सोचें कि बचा को छठी तक का दूध याद आ जाय।'

जगनू—'हाँ, कुछ उपाय तो सोचना ही पड़ेगा नहीं तो वे और ज्यादा पैर फैलायेंगे। उन्हें इसका मजा चखाना ही होगा।

मैं कल ही जाकर इसकी खबर पुलिस में दे आऊँगा। उम्मीद है कि ऐसे लोगों की अच्छी मरम्मत हो जायगी।'

दिलीपसिंह ठाकुर-समाज में प्रतिष्ठा के पात्र थे। उनका कुटुम्ब बड़ा न था, पर वे बहुत दिनों से उस गाँव में रहते थे। मकान-जमीन सभी कुछ थी। गाँव में उनका मान होता था, पर उनमें शराब की बुरी लत थी। बाजारू शराब उनकी इच्छा को तृप्त न कर सकती थी, इस कारण वे अधिकांश शराब अपने घर में ही बना लिया करते थे। जब से उन्हें इस वर्ष भी शराब का ठेका नहीं मिला था तबसे उन्होंने जगनू की दूकान पर जाना बन्द कर दिया था और दूसरे लोगों को भी उसकी दूकान पर जाने से मना करते थे। शराब बनाकर खुद पीते और दूसरों को पिलाते थे।

जगनू दूसरे ही दिन शहर जा पहुँचा। एक्साइज़ इन्सपेक्टर से मुलाकात की और कहा—'हुजूर मुझे बड़ा घाटा हो रहा है। शराब बिकना प्रायः बिल्कुल ही बन्द हो गया है। सवेरे से शाम तक बैठा रहता हूँ, फिर भी बड़ी मुश्किल से केवल थोड़ी-सी ही बिकती है। मुझे ऐसा पता चला है कि कुछ लोग घर पर ही शराब बना लेते हैं।'

इन्सपेक्टर—'अच्छा तुम उन्हें पकड़ाओ। कौन लोग हैं वे?'

जगनू—'बहुत अच्छा हुजूर। होली का बड़ा त्योहार आ रहा है। लोग शराब जरूर बनायेंगे। मैं हुजूर से प्रार्थना करता हूँ कि आप उस दिन सिपाहियों को काफी संख्या में भिजवाने का प्रबन्ध कर दें तो बहुत अच्छा हो।'

इन्सपेक्टर—'अच्छा, तुम जाओ।'

जगनू—'हुजुर सलाम।'

बात तय हो गयी और जगनू खुश होकर नयी नयी स्कीमें बाँधता हुआ गाँव की ओर चल दिया।

× × ×

कल होली है। जगनू ने फिर से पुलिस में खबर भेज दी। होली के दिन शाम होते-होते करीब सौ सिपाही आ पहुँचे। काफी रात हो जाने पर हेड कान्सटेबल की आज्ञा से सब सिपाही गाँव के चौरस्तों और गलियों पर ड्यूटी पर तैनात हो गये। गाँव के अधिकांश लोग सो गये थे, इस कारण उन्हें इस बात की खबर न हुई।

आकाश में बादल घिर आये थे। रात अँधेरी थी। किन्हीं-किन्हीं घरों से दीपकों का क्षीण प्रकाश आ रहा था। इतने में दिलीप सिह अपने घर से बाहर निकले। अपने घर के सामने एक सिपाही को खड़े देखा तो उसे घुड़ककर वहाँ से चले जाने को कहा।

सिपाही हरीराम इस घुड़की को न सह सका। वह हट्टा-कट्टा नौजवान पट्ठा था। उसे मृत्यु का भय कभी न रहता था। जिस कार्य के करने को उसने पैर उठाया था उसमें कितनी ही बाधायें क्यों न आवें, वह कमर कसकर तैयार था। उसने तुरन्त सीटी दी। सब सिपाही, जो जहाँ थे आ पहुँचे। हरीराम ने दिलीपसिह के मकान पर अपना शक बतलाया। हेड कान्सटेबल वीरनारायण ने हुक्म दिया कि उनके घर की तलाशी ली जाय। हुक्म पाते ही सब सिपाही बाज की तरह उनके घर पर टूट पड़े। घर की तलाशी ली जाने लगी। लोगों ने बनी हुई शराब परनालों में बहा दी। शराब बनाने का सामान उपलों के बीच दबा दिया। परिवार के कई लोग गिरफ्तार कर लिये गये।

पुलिस ने मुकदमा चलाया। दिलीपसिंह और उनके भाई-बन्दों का काफी रुपया खर्च हुआ। जगनू सरकारी गवाह बन गया और उसे दिलीपसिंह और उनके परिवार के विरुद्ध गवाही देनी पड़ी। मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा।

आज मुकदमे का अन्तिम दिन है। आज ही फैसला होगा। दर्शकों की काफी भीड़ है। इजलास भरा हुआ है। जगनू भी दिल सुख के साथ हाजिर है।

जज साहब ने फैसला सुनाया। दिलीपसिंह, उनके चचेरे भाई यदुवीरसिंह और भान्जे नत्थूसिंह को शराब बनाने के अभियोग में आध आध वर्ष का कठिन कारावास का दंड मिला और हरएक पर पचास पचास रुपये जुरमाना भी हुआ।

जगनू खड़ा सब सुन रहा था। उसे ऐसा मालूम होता था मानों उसकी आत्मा कह रही हो—'जगनू! तुम इस पाप की कमाई छोड़ दो—इस प्रकार कमाया हुआ पैसा कभी फलता-फूलता नही। रोटियों के लिए दूसरों का गला मत काटो। अपने हाथ अपने भाइयों के खून से न रँगो। गवाही झूठ नहीं है। दिलीपसिह और उनके भाई-बन्दों को दंड मिलना आवश्यक है, पर ऐसा पेशा ही क्यों अख्तियार करना जिससे अपने भोले भाइयों का अनभल हो। पसीने की कमाई पचती है, पाप की नही। पुलिस के पिट्ठू बनकर अपने मित्रों का गला न घोंटो। आज देश में जिस वस्तु के विरुद्ध आन्दोलन हो रहा है उसी को तुम बेचते हो! अपने निर्दोष भाइयों को पिलाते हो! उनकी पसीने की कमाई इस तरह बरबाद होती है। इसे आज ही छोड़ दो।'

आत्मा के इस आदेश से जगनू को बड़ा धक्का पहुँचा। उसने निश्चय कर लिया कि वह यह पेशा छोड़ देगा और अपने जीवन भर के पापों का प्रायश्चित्त करेगा। यद्यपि वह अधिक पढ़ा लिखा न था परन्तु हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ साधारण तौर से पढ़ और समझ लेता था। प्राय: रोज ही ग्रामीण पुस्तकालय के अखबारों में शराब-बन्दी के आन्दोलन की बातें पढ़ा करता था और अपनी विचारधारा से उनपर मनन किया करता था।

कल के अखबार में उसने पढ़ा था कि पास के कस्बे में मद्य-निषेध के आन्दोलन के लिए एक बड़ी भारी सभा होगी। बड़े बड़े विद्वानों के भाषण होंगे। प्रस्ताव पास किये जायँगे। जगनू ने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया। सवेरा होते ही उसने दिलसुख को साथ लिया और कस्बे में जा पहुँचा। सभा शुरू हुई। बड़े बड़े विद्वानों के भाषण हुए। सभी शराब को हानिकारक बतला रहे थे। वह बैठा सब सुन रहा था। उसका हृदय फड़क उठा और दो चार शब्द कहने की इच्छा हुई। सभापति की आज्ञा ले वह भी स्टेज पर जा पहुँचा। स्टेज पर खड़ा वह इतना खुश हो रहा था मानों स्वर्ग का सुख मिल गया हो। वह बोला—

'हमारा देश कितना गरीब है। प्राचीन काल में इस भारत का नाम सोने की चिड़िया था। जहाँ दूध और घी की नदियाँ बहती थीं वहाँ आज हमारे हजारों भाई भरपेट खाने के लिए तरसते हैं। भाई भाई का गला घोटने के लिए तैयार है। लोग अपने पैसे की किस प्रकार बरबादी कर रहे हैं—शराब पीते हैं, अन्य नशीली चीजों का प्रयोग करते हैं। उनका स्वास्थ्य दिन दिन गिरता जाता है। जो चीज तन, मन और धन तीनों को बरबाद

करती है, जो मनुष्य के अधःपतन में पूरी सहायता देती है, जिसके प्रचुर प्रचार ने बड़े बड़े देशों और राष्ट्रों को तबाह कर दिया, जिसके कारण आपत्तियों के पहाड़ टूटते रहे, उसे न त्यागना कितने आश्चर्य और दुख की बात है।

मै भी शराब की दुकान करता रहा। जब से दिलीपसिंह शराब बनाते पकड़े गये और उन्हें सजा मिली तबसे मैने शराब का ठेका खरीदना छोड़ दिया है। मुझे डर है कि कुछ दिनों में दुनिया से भारत का नाम न मिट जाय। हमारा देश दासता के फन्दे में जकड़ा हुआ है। हम पराधीन हैं। हमारे हाथों में हथकड़ियाँ हैं और पैरो में बेड़ियाँ। परन्तु यह सब अपनी ही मूर्खता के कारण। हमने अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारी है। आज तो हरएक नौजवान के सामने यह आदर्श होना चाहिये—

पराधीनता की लपटों में झुलस रहा है मेरा देश।
कूद पड़ूँ मै उसे बुझाने यह है यौवन का सन्देश॥

आज यहाँ खड़े हुए मुझे उस दिन का अपनी आत्मा का आदेश याद आता है।'

दर्शकों ने देखा, यह कहते कहते उसकी आँखे सजल हो गयीं और मोती-से दो आँसू टपक पड़े।

परित्यक्ता

'बाबू जी, गाड़ी का टाइम हो गया है!'—सहसा आवाज आयी। शङ्कर अखबार देखने में व्यस्त था। आँखों के सामने से उसने अखबार हटाते हुए देखा तो कुली खड़ा था। वेटिंग-रूम में लगी घड़ी की ओर नज़र उठायी, दो बजकर ग्यारह मिनट हो चुके थे। उसने कुली से प्रश्न किया—'गाड़ी छूटने का ठीक वक्त क्या है?'

'हुजूर, ढाई।'

शङ्कर ने उसे सामान उठाने का इशारा किया और खुद प्लेट-फार्म की ओर चल दिया। पहुँच कर देखा तो गाड़ी अपनी औसत चाल कम करती हुई चली आ रही थी। कुछ क्षण में आकर खड़ी हो गयी। शङ्कर खाली जगह की तलाश करने लगा, पर उसका चक्कर लगाना बेकार ही हुआ। आखिर करता क्या? मजबूर होकर एक डिब्बे में घुस ही गया। बड़ी भीड़ थी, इस कारण वह दरवाजे पर खड़ा हो, बाहर प्लेटफार्म की चहलकदमी देखने लगा।

ठीक दो बजकर तीस मिनट पर गाड़ी खुली। थोड़ी देर में बर्थ पर कुछ जगह हो जाने से वह बैठ गया। अब गाड़ी हवा से बातें कर रही थी। सहसा एक स्त्री बर्थ से उठकर दरवाजा खोल, खड़ी हो गयी। रङ्ग-रूप और गठन को देखकर वह सुन्दर कही जा सकती थी। किसी भले घर की जान पड़ती थी। शङ्कर ने एक क्षण उसके मुँह की ओर देखा और फिर डिब्बे के अन्य मुसा-

फिरों की ओर। प्रायः सभी उस स्त्री की ओर देख रहे थे और आपस में कुछ काना-फूसी भी करते जा रहे थे।

शङ्कर ज़रा ग़ौर से उसकी ओर देखने लगा। कभी वह खिड़की में लगे शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखती, कभी बाहर का दृश्य देखने लगती। क्षण भर में उसका मुख रक्तवर्ण हो जाता, भौहें चढ़ जातीं और आँखे लाल हो जाती। अन्य लोग उसकी इस आकृति को देख कह उठते 'पागल सी जान पड़ती है।' जब वह निराश डबडबायी हुई आँखों से खिड़की के बाहर दृष्टि दौड़ाती तो जान पड़ता मानो वह किसी को ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रही हो। इसी बीच वह चूड़ियों को बजाती जाती। कभी गिनती और फिर सहसा उन्हें चूम लेती। कुछ क्षण बाद किसी को न पा वह दृष्टि फेर लेती। उसका दिल पानी हो आँखों से बह जाता। उसकी यह अवस्था अन्य लोगों के लिए मज़ाक और दिलचस्पीका साधन थी परन्तु शङ्कर को इसने खिन्न बना दिया। उसका जी मसोस उठा और हृदय का भार हल्का करने के निमित्त खिड़की के बाहर देखने लगा। मन्द मन्द हवा बह रही थी। वह अनजान में ही कुछ गुनगुनाने लगा।

यद्यपि वह बहुत धीमी आवाज से गुनगुना रहा था परन्तु फिर भी हवा के रुख के फलस्वरूप आवाज अन्दर सुनाई दे रही थी। युवती गाना सुनकर अधिक दुखी जान पड़ने लगी। शङ्कर को यह समझने में देर न लगी कि उसके गाने ने युवती के हृदय में किसी स्मृति को जागृत कर दिया। शायद उसकी पूर्ण युवावस्था के चित्र उसकी आँखों के सामने आ उपस्थित हो गये हों—जब उसमें रूप था, यौवन की मादकता थी और शायद

समस्त सुखों का समन्वय और पति प्रेम का अक्षय भण्डार। परन्तु इस समय तो वे सब बाते उसके लिए अतीत के स्वप्न मात्र रह गयी थी।

एकाएक वह बड़े जोर से हँसने लगी, परन्तु एक क्षण में ही उसका मस्तक झुक गया। वह चुप हो गयी, आँखे भर आयी। फिर उठकर वह खड़ी हो गयी--शील सङ्कोच के अञ्चल में शरीर को चुराती सी। मुसाफिर हँस रहे थे--'कहा न, पगली है पगली!

आश्चर्य! वह खुले दरवाजे की ओर बढ़ रही थी। दरवाजे पर पहुँचकर वह मौन हो कुछ क्षण खड़ी रही। सहसा उसकी अवस्था में परिवर्तन की लहर दौड़ गयी। अपने को अधिक संभाल न सकी। किसी के चरण-स्पर्श की उत्कण्ठा के वशीभूत हो बाहर गिरना ही चाहती थी कि शङ्कर ने बढ़कर हाथ पकड़ पीछे खींच बर्थ पर बैठा दिया तथा दरवाजा बन्द कर दिया। वह सिसकियाँ भरने लगी--'लोग...मुझे रोकते...हैं...जाने से। नीच...अपनी स्वार्थ-सिद्धि चाहते...हैं। न जाने भगवान्! तूने ऐसे अधम मनुष्यों को पृथ्वी पर क्यों पैदा किया, और फिर इस असहाय नारी जाति का सृजन ही क्यों किया? पुरुष कामान्ध हो उस पर तरह तरह के अत्याचार किया करते हैं परन्तु नारी में इतनी शक्ति कहाँ कि वह अपनी रक्षा कर सके। पुरुष समाज नेह लगा कर धोखा देने में जरा भी नही हिचकिचाता, पर स्त्री का निश्चय परिवर्तनशील नहीं होता। उसे आत्म-सम्मान का पुरुष की अपेक्षा अधिक ध्यान होता है।'

इसी बीच गाड़ी रुकी और टी० टी० ई० ने डिब्बे में प्रवेश किया। युवती उसी अवस्था में कुछ बड़बड़ा रही थी। उसकी इस

अवस्था को देखकर उसने अन्य मुसाफिरों से पूछा—'क्या बात है?'

'कुछ सनकी-सी जान पड़ती है। बड़ी देर से इसी प्रकार बे-सिरपैर की बाते बक रही है। कुछ समय पूर्व इसने कूदने का भी प्रयास किया था, पर मैंने हाथ पकड़ खीच लिया।'—शङ्कर ने जवाब दिया।

अब वह चुप हो गयी थी और एकटक भूमि की ओर ताक रही थी। टी० टी० ई० ने पूछा—'कहां जा रही हो?'

युवती ने कोई जवाब नही दिया। उचित यह समझा गया कि उसे गाड़ी से उतार लिया जाय। प्लेटफार्म पर उतरते समय वह बड़ी सावधानी से बगल में कोई चीज छिपाने की चेष्टा करती जा रही थी।

स्टेशन पर उतरते ही रेलवे कर्मचारी ने प्रश्न किया—'बगल में क्या है?' कई बार प्रश्न दुहराया गया, पर कोई उत्तर न मिलने पर कुछ शक हुआ कि कही कोई चोरी की चीज न हो। इस विचार के उठते ही कर्मचारी ने हाथ बढ़ा, बगल से पोटली खीच ली और खोलने लगा। युवती की आखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चुकी थी और वह उसे न खोलने की बार बार विनय करती थी। कपड़े के अलग होते ही एक सिधौंरा निकला जिसके ऊपर लिखा था—'प्रथम भेट।' युवती इस दृश्य को न देख सकी और वेदनावश मूर्च्छित हो, जमीन पर गिर पड़ी।

× × ×

युवती जब होश में आयी तो देखा कि वह अस्पताल में पड़ी है। डाक्टर उसका निरीक्षण कर रहा था। प्लेटफार्म पर धड़ाम से

ाार जाने के कारण उसकी कोहनी में चोट आ गई थी। दर्द हो रहा था। डाक्टर चला गया था। करीब आध घण्टे पश्चात् कम्पाउण्डर ने कमरे में प्रवेश किया—ड्रेसिङ्ग का सामान लिये हुए।

वह ड्रेसिङ्ग कर ही रहा था कि उसे ख्याल आया कि चेहरा कुछ परिचित-सा है। युवती के मन में भी यही धारणा हुई, पर दोनों चुप थे। किसी को पूछने का साहस न हुआ। सहसा युवती ने प्रश्न किया—'कम्पाउण्डर साहब, आपका घर कहाँ है?'

'मैं गया का रहनेवाला हूँ।'

'यहाँ आप कितने दिन से काम कर रहे हैं?

'करीब ग्यारह वर्ष गुजर गये।'

'गया में आप कौन-से मुहल्ले में रहते थे?'

'आपका यह सब बातें पूछने का मतलब?'

'मैं भी गया की रहनेवाली हूँ।'

अब तक युवती कम्पाउण्डर साहब को अच्छी तरह पहचान गयो थी। उसके मुँह से अचानक निकल ही गया—'क्या तुम मुझे भूल गये चन्द्र?'

'तुम कौन?'

'मेरा नाम विमला है।'

इतना सुनते ही चन्द्र की आँखों के सामने से ग्यारह वर्ष पूर्व के दृश्य चल-चित्र की भाँति एक-एक करके गुजरने लगे। एकाएक उसके ओंठ खुल गये—'ओह! तुम वही विमला हो जिसे मैं मार-मार भाग जाता था और तुम जाकर माँ से शिकायत करती थी?'

'तुम भी तो मुझे भूल गये। इतनी देर में पहचान सके।

समय कितना परिवर्तनशील है। तुम उन दिनों कितने तन्दुरुस्त थे और अब इतने क्षीणकाय।'

'विमला, गृहस्थी की झञ्झटों का ही यह परिणाम है। वैवाहिक जीवन में सुख कहाँ? सारे जीवन में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं। इस जीवन में हमें एक निश्चित पथ पर चलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इधर-उधर भटकने का अवसर नहीं।'

'क्या तुम भूल गये बचपन के उन खेलों को जब हम गुड्डे-गुड़ियों का ब्याह रचाते थे?'

'तुम भी कैसी नासमझी की बातें करती हो। बचपन के खेल भूलने के लिए ही होते हैं। उस भोलेपन में हम न जाने कितनी ऐसी बाते कह और कर जाते हैं जो बड़ी अवस्था में सम्भव नहीं।'

'परन्तु यह सम्भव नही कि मै उन्हें भूल सकूँ। मुझे याद है किस प्रकार अपनी इच्छा के विरुद्ध, माता-पिता के कारण मुझे विवाह-बन्धन में बँध जाना पड़ा। एक बार मैंने तुमसे भी विवाह-प्रस्ताव किया था, पर तुमने उसे ठुकरा दिया।'

'जाने भी दो उन बातों को। यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे?

'किस्मत का खेल।'

'तुम्हारे माता-पिता अभी जीवित हैं?'

'नही, अब मेरा इस संसार में तुम्हारे सिवाय कोई नहीं। मैं सुहागिन होते हुए भी विधवा हूँ।'

'यह कैसे सम्भव है, विमला?'

'मनुष्य के विचार असम्भव को भी सम्भव बना देते हैं। मैं अब परित्यक्ता हूँ।'

'यह तुम क्या कह रही हो?'

'तुम जानते ही हो, जब मेरी शादी हुई थी तब वे पढ़ते ही थे। यहाँ की पढ़ाई समाप्त कर वे विदेश चले गये। वहाँ से लौटने पर एक उच्च शिक्षित लड़की ने मेरा स्थान ले लिया। अपनी गुजर न देखकर तब से मैं अलग रहने लगी हूँ।'

'परन्तु इसमें दोष किसका ?'

'दोनों का ही। पर अधिक उस लड़की का।'

'क्यों ?'

'नारी-हृदय कोमल होता है। सहानुभूति का उसमें विशेष स्थान है। यदि वह मेरा जरा भी ख्याल करती तो वे कुछ भी न कर सकते थे। तुम्हें पास देख कर आज मैं उस सुख और शान्ति का अनुभव कर रही हूँ जो वैवाहिक जीवन में भी कभी न प्राप्त हुई। आज मेरे मन की साध पूरी हो गयी। उनका दिया सिंधौरा आज भी मेरे पास है, पर तुम्हें पाकर अब उसमें कोई आकर्षण नहीं।'—यह कहते हुए उसने कुर्सी पर बैठे चन्द्र के गले में दोनों बाहें डाल दीं।

'यह तुम क्या कर रही हो विमला ? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा ? आज मैं दूसरे का हूँ, यह तुम्हें ख्याल रखना चाहिये। बचपन में हमारा तुम्हारा चाहे जो कुछ भी सम्बन्ध रहा हो, पर अब तो हम दोनों के बीच केवल अतीत की स्मृतियों का ही सम्बन्ध है।'

'अब मैं दुनिया की किसी चीज को नहीं चाहती, केवल दीपक जैसे टिमटिमाते हुए तारों भरा आकाश और तुम्हारा दर्शन।'

ड्रेसिङ्ग हो चुकी थी। चन्द्र उठकर चला गया। विमला फिर विचारों में लीन हो गयी।

× × ×

विमला की कोहनी की चोट ठीक हो गयी। पन्द्रह दिन का अर्सा और बीत गया। इसी बीच विमला को मोतीझरा हो गया। इस शरार का क्या ठिकाना! न जाने यह कब नष्ट हो जाय। डाक्टर ने जवाब दे दिया। विमला के अब अच्छे होने की कोई आशा नहीं। उसका अपना अब चन्द्र के सिवाय कौन था?

शाम के सात बज चुके थे। चन्द्र ने गिलास में दवा निकाल विमला से कहा—'लो दवा पी लो।'

विमला ने गिलास ले दवा पीते हुए कहा—'चन्द्र, इस समय तुम्हारे हाथ से शायद आखिरी बार दवा पी रही हूँ।' कुछ मिनटों के पश्चात् एक अधूरा वाक्य सुनाई दिया—'तुम्हारे मिलन से मेरी आत्मा इस ससार को शान्ति ···।' विमला सदा की नीद सो गयी। चन्द्र ने बहुत दिल कड़ा करने की कोशिश की, पर मानवीय दुर्वलता के फलस्वरूप हृदय मे दुख उमड़ ही पड़ा।

अभागिनी नैना

गॉव बहुत बड़ा न था। पचास-साठ झोपड़ियों के बीच एक पक्का मकान दिखाई देता था। इसमे गॉव के जमीदार त्रिभुवन-सिह रहते थे। सभी जाति और धर्म के लोग इस गॉव में मौजूद थे। दो-चार परिवारों को छोड़कर बाकी सब भरे-पूरे थे। आराम का जीवन व्यतीत करते थे।

नैना की झोपड़ी तलैया के किनारे थी। उसका एकमात्र लड़का हीरा था। वह भी अभी अनजान, अबोध, केवल चार

बरस का। हीरा के पिता को मरे पूरे दो वर्ष बीत चुके थे। नैना ने पति का देहान्त हो जाने पर पुत्रको बड़े परिश्रम और दुलार से पाला-पोसा था। इस दुनिया में उसका और कोई सम्बन्धी शेष न था। हीरा ही उसके जीवन का एक अनमोल रत्न था। उसी आधार को ले वह वैधव्य के दो वर्ष व्यतीत कर चुकी थी। उसकी अन्तिम आकांक्षा यही थी कि वह हीरा को किसी हिल्ले से लगाकर मरे।

नैना के पास आमदनी का कोई साधन विशेष न था। तड़के ही वह खुरपी-खॅचिया ले गाँव से बाहर चली जाती, हीरा को अकेला सोता छोड़कर। पहर दिन चढ़े वह उठता, पुकारता—'अम्मा-अम्मा!' जब कोई उत्तर न मिलता तो सोचता, कहीं किसी के घर बैठने गयी होगी। इसी भ्रम से दो-चार घर ढूंढ़ आता। जब अम्मा कहीं न मिलती तो घर आ टटिया के सहारे बैठ, रोने लगता। इतने में नैना घास का बोझा सिर पर रखे आ पहुँचती। हीरा बोझा उतारने के पहले ही उसकी टॉगों से लिपट कर कहता 'अम्मा, तू तहाॅ दई हती? मुधे बली भूख लदी है।'

नैना के हृदय से मातृ-प्रेम छलक पड़ता। वह जल्दी से गट्ठा उतार कर किनारे रख देती, हाथ-पैर धोती और हटरी से शाम की बनायी नमक पड़ी रोटी का एक टुकड़ा निकाल लाती। गुरसी से आग निकाल उस पर रोटी गरम कर हीरा को देती। वह बड़े चाव से खाने लगता और क्षुधा शान्त होने पर खेलने-कूदने निकल जाता। भोला बालक इसी में खुश था—मिठाई अथवा हलुआ-पूड़ी की उसे चाह न थी।

करीब ग्यारह बजे नैना जमींदार के घर जा कुछट हल कर

आती और दोपहर के खाने के लिए ले आती। शाम के पाँच बजे वह घास का गट्ठा उठा, गाँव से एक कोस दूर कस्बे के बाजार में जा बैठती और अपनी किस्मत आजमाने लगती।

ग्राहक आते—'घास वाली, बोल इस गट्ठे का क्या लेगी?'

नैना नम्रभाव से कह देती—'बाबूजी, तीन आने लूँगी।'

'वाजबी बता, निरी जड़े तो खोद लायी है और माँगती है तीन आने। इसमें तो दूब का नाम भी नही है।'

नैना धीमे स्वर से कह देती—'अच्छा बाबूजी आप ही बता दीजिये।'

'चार पैसे लेना हो तो ले, चल उठा।'

नैना की अस्वीकृति पा बाबू साहब चले जाते। इसी तरह न जाने कितने बाबू साहब आते और चले जाते। कोई भी चार छः पैसे से अधिक न लगाता। नैना शाम तक बैठी रहती और अन्त मे जो दाम लगते उसी में घास बेच देती। पैसे लेकर किराने की दूकान पर जाती, आटा और नमक खरीदती। काफी अँधेरा हो जाने पर घर लौट सकती। चूल्हा जलाती, मोटी-मोटी दो रोटियाँ सेकती। एक खुद खा लेती और आधी हीरा को दे देती। बची हुई आधी सवेरे के लिए उठाकर रख देती।

पति का छोड़ा हुआ एक बीघा खेत भी उसके पास था। साल भर मे उसका लगान दो रुपये देना पड़ता था। त्रिभुवनसिंह लगान के सम्बन्ध मे किसी पर रञ्चमात्र भी दया न करते। नैना को एक रुपया इस छमाही और एक रुपया उस छमाही देना पड़ता था। वह हर साल खेत बटाई पर दे देती। साल भर में जो अनाज

मिल जाता, वह सब जमींदार के हवाले लगान की अदायगी में कर देती।

× × ×

कई वर्ष बीत गये। हीरा अब नौ वर्ष का हो चुका था। नैना अब उसे ढोर चराने के लिए भेजने लगी। वह सुबह होते ही एक चिथडे में रात की बची हुई आधी रोटी बाँधता, हाथ में एक मोटा सा डण्डा लेता और ढोरों के साथ बरहे में दूर चला जाता। दोपहर को जब भूख लगती तो ढोरों को बाग में पेड़ों की छाया में लाकर इकट्ठा कर देता और आप आधी रोटी खा, नदी में जा पानी पी लेता। सारा दिन जङ्गल में ढोरों के पीछे भटकते रहने के पश्चात् अँधेरा हो जाने पर घर आता, दिन भर का थका-माँदा।

चराई के बदले लोग हीरा को छमाही कुछ अनाज दे दिया करते थे। इस कारण अब माँ-बेटे की मजे में कटती थी। नैना अभी भी घास बेचने जाती और जो पैसे मिल जाते उनमें से कुछ को बचाकर रख छोड़ती—हीरा के विवाह की आशा में।

एक दिन जमींदार साहब के सौ रुपये के नोट किसी ने ग़ायब कर लिये। अभाग्यवश नैना उस दिन भी टहल करने गयी थी। जमींदार के बड़े लड़के की बहू रामेती बड़ी कर्कशा थी। दिन भर घर में कोहराम मचाये रहती थी—इसे मार, उसे डाँट। सारा घर सिर पर उठा रखा था। इस मौके पर भी वह न चूकी—'यही चंडी नैना नोट उठा ले गयी होगी। दोपहर को चावल फटकने आयी थी। हरामजादी का नाश हो जाय।

नैना की ईमानदारी का ईश्वर साक्षी था। उसमें चोरी की लत न थी। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि चोर को कहीं भी

स्थान नही। उसे जन्म भर ठोकरे ही खानी पड़ती हैं और बड़ी ही दुर्गति होती है।

नैना अभी कस्बे से घास बेचकर लौटी ही थी कि बाहर हल्ला मचा—नैना ! ओ री नैना !! चल निकल इधर। क्या कर रही है ? उसने घबड़ाकर टटिया खोली। ज़मींदार के नौकर अन्दर घुस आये और बग़ैर कुछ कहे-सुने उसे लात-घूँसे लगाने लगे। वह कुछ न समझ सकी। फिर दुष्ट नौकर उसे घसीटते हुए त्रिभुवनसिह के सामने ले गये।

ज़मीदार साहब ने कड़ककर कहा—क्यों री हरामजादी, रुपये चुरा कर ले गयी ! क्या वह तेरे बाप की कमाई के थे ? सब रकम निकाल कर अभी यहाँ रख दे, नही तो ऐसे कोडे लगाऊँगा कि सीधे यमलोक चली जायगी।

नैना बोली—सरकार ! मैंने रुपये नही लिये हैं। हीरा की कसम खाती हूँ। मैंने रुपये आँख से देखे भी नहीं। मेरा हीरा आज ही मर जावे जो मैने रुपये छुए भी हों।

उसने लाख विश्वास दिलाया पर जमींदार साहब ने कुछ न सुना।

त्रिभुवनसिह ग़ुस्से से लाल हो नौकर से बोले—'अच्छा, ऐसे यह नही बतायेगी। अभी इसको पचास कोड़े लगाओ, तब जरा देर मे कबूल देगी।'

नैना पर कोड़ों को मार पड़ने लगी। वह दर्द के मारे चीख रही थी। जमींदार साहब को जरा भी रहम न आया। विधवा के बेतहाशा रुदन ने शीला के हृदय को पिघला दिया। वह दौड़कर पिता से बोली—'पिता जी, बहुत हो चुका। अब रहने दीजिये। मुझसे यह पशुता का व्यवहार नहीं देखा जाता।'

खैर ज़मींदार साहब ने नौकर को मना कर दिया और सारा मामला शान्त हो गया। ज़मींदार साहब सौ रुपये से हाथ धो बैठे।

शीला त्रिभुवनसिंह की सबसे बड़ी लड़की थी। रङ्ग गोरा चिट्टा। कई साल बीते, शादी हो चुकी थी। इस वर्ष उसकी गोद एक शिशु ने सुशोभित की थी। ज़मींदार उसे बहुत मानते थे। गांव के लोग भी उसका बड़ा आदर करते थे। जो भी दो-चार दिन वह मैके में रहती, गाॅव के निवासियों का जीवन बड़े मजे में कटता था। वे सब उसे दया-देवी कहकर पुकारते थे। और सचमुच बात भी यही थी। वह साक्षात् दया की देवी थी। कभी-कभी वह सोचा करती—सब प्राणी उसी एक परमात्मा की सन्तान हैं, सबके शरीर में एक ही तरह का रक्त और मांस है फिर भी संसार का राग विचित्र है। सुख-दुख सबके पीछे लगा हुआ है! आत्मा से उत्तर मिलता—सुख दुख, यह सब पिछले जन्म में किये अच्छे-बुरे कर्मों का फल है। संसार में मनुष्य भूत के कर्मों का फल भोगने ही आता है और अगले जन्म में फल पाने की आशा का बीज बोने।

उसे फिर ख्याल आता, क्या कारण है कि गरीबों के साथ अमीर पशु-तुल्य व्यवहार करने में जरा भी नही हिचकिचाते? क्या ईश्वर ऐसा निर्दयी हो सकता है कि उनकी पुकार बिल्कुल न सुने! लोग तो उसे दयानिधि कहते हैं! परन्तु आश्चर्य, कहाॅ चला जाता है वह दयानिधि, जब अमीर, गरीबों का खून चूस, अपनी प्यास बुझाते हैं। गरीब आहें भर कर रह जाते हैं, परन्तु उनकी आहें व्यर्थ न जायेगी।

हृदय से आवाज आती—ईश्वर सब जगह है। वह सब कुछ

देखता है, पर दखल नही देता। कर्मोंका फल सबको मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य के दरबार में सजा प्रत्यक्ष रूप में मिलती है, पर ईश्वर के यहाँ वही अप्रत्यक्ष का रूप धारण कर लेती है। फुरसत पाने पर इसी प्रकार के तर्क-वितर्क उसके अन्दर उठा करते, पर वह किसी निश्चय पर न पहुँच पाती।

इधर हीरा ढोर चराने के पश्चात् अँधेरा होने पर घर आया, पर घर सूना पाया। बड़े अचम्भे में पड़ा। माँ आज कहाँ चली गयी ? अब तक तो वह कभी आ जाया करती थी। आज जरूर कुछ अनेठ होगयी। मुहल्ले वालों से पूछने पर मालूम हुआ कि जमींदार के नौकर उसे मारते-पीटते कोठी पर ले गये हैं। इतना सुनना था कि वह रोता हुआ कोठी की ओर भागा। कोठी तक पहुँचने भी न पाया था कि रास्ते में ही नैना डण्डे के सहारे आती हुई मिल गयी। उसका वदन कई जगह सूज गया था। खून भी बह रहा था। हीरा ने पूछा—'क्या हुआ, अम्माँ ?'

'कुछ नही बेटा।'—पर जब हीरा न माना तब उसने सारा किस्सा कह सुनाया।

हीरा कहने लगा—'क्या अम्मा, जमींदार साहब को जरा भी दया नही आयी ? अच्छा, अब मै उनके ढोर चराना छोड़ दूँगा।'

'अरे बेटा, ऐसा न करना, नही तो गाँव में रहना भी मुश्किल हो जायगा।'

'कुछ हरज नही अम्माँ, गाँव से निकाल ही तो देंगे। हम दोनों चलकर किसी दूसरे गाँव में बस रहेंगे। हाँ, इतना अवश्य करेंगे कि जब कभी बहिन शीला मैके आवेगी तब उनसे मिलने आ जाया करेंगे।'

दोनों घर आये। हीरा कई बार देख चुका था कि जब कभी उसके चोट लग जाया करती थी तब नैना हल्दी-चूना मिलाकर लगा देती थी। उसने चराई के मिले धानों में से दो मुट्ठी धान लिये और बनिये की दूकान पर जाकर हल्दी खरीदी। चूना वैसे ही माँग लाया। घर आकर हल्दी चूना मिला माँ के घावों पर लगा दिया।

नैना ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उसे चाहे भीख ही क्यों न माँगनी पड़े, पर वह उस गाँव में न रहेगी। क्या भिखारी जीते नहीं? उनके तो घर-बार कुछ भी नहीं होता। यों ही सड़क के किनारे अथवा गली-कूँचों में पड़ रहते हैं, सर्दी-गर्मी उनके लिए सब बराबर है। जो दाता उनका पालन-पोषण करता है वही हमारी भी रक्षा करेगा।

यही सोच एक दिन दोनों प्राणी गाँव से चल दिये। गर्मी के दिन थे। ठीक दोपहर के समय वे एक दूसरे गाँव में पहुँचे। प्यास जोर से लगी थी। पास में लुटिया-डोर थी कुँए से पानी भर दोनों ने पिया। हीरा पानी पीकर बैठा तो गश आ गया। ठण्डा ठण्डा पानी गर्मी में चलने के पश्चात् पेट में पहुँचने पर बेहोशी आना स्वाभाविक था। नैना बड़े जोर से चीख कर रोने लगी। उसे ऐसा लगा मानों हीरा का अन्तिम समय आ पहुँचा। दस-बारह कदम के अन्तर से मकान शुरू हो जाते थे। लोगों ने चीत्कार सुनी। दो-तीन आदमी दौड़ आये। हीरा के मुँह पर पानी के छींटे दिये गये। पङ्खे से हवा की गयी। थोड़ी देर में उसने आँखें खोल दीं और पुकारा—'अम्मा...!'

'बेटा' मैं तो तेरे पास बैठी हूँ।'—यह कहते हुए वह उसके

सिर पर हाथ फेरने लगी। माँ-बेटे की ऐसी दशा देखकर एक महानुभाव को दया आ गयी। उन्होंने अपने घर की एक कोठरी उन्हे रहने के लिए दे दी। दोनों सुख से रहने लगे। दिन भर दोनों मजदूरी करते और शाम को खा-पी कर सो जाते।

४

लू बड़े जोर से चल रही थी। इसी समय हीरा अपने निवास-स्थान से करीब एक कोस दूर के गाँव से काम कर दो पहर की छुट्टी में घर आ रहा था। नैना आज काम पर न गयी थी, घर पर ही हीरा के लिए रोटी तैयार कर रही थी। रास्ते में ही उसे लू लग गयी। बेचारा वही पछाड़ खाकर गिर पड़ा और कुछ ही क्षणों मे इस संसार से चल बसा। नैना को इसकी खबर भी न हुई। जब तीसरा पहर हो गया और हीरा न आया तो उसने एक कपडे में दो मोटी रोटियाँ बाँधी और हीरा को देने चली। गाँव से कुछ दूर जाने पर उसे एक जगह आठ-दस मजदूर इकट्ठे दिखाई पड़े। उन्होंने उसे आते देखा। जब वह पास पहुँची तो एक कहने लगा—'तेरा हीरा तो तुझे छोड़कर चल बसा।'

नैना चौंक पड़ी। जल्दी से पुत्र की लाश के पास पहुँची और रोने लगी। आखिरी बार उसने हीरा के गालों का चुम्बन किया और उसकी व्यथित आँखों ने उसके गालों को भी धो दिया।

हृदय में जिस दीपक को जलाये, वह अपने अँधेरे जीवन में प्रकाश का स्वप्न देख रही थी वह आज सहसा बुझ गया। स्वप्न अधूरा रह गया!

भाग्य-चक्र

शहर में आयी हुई थियेटर कम्पनी ने अपनी ख्याति फैला रखी थी। कई दिन पूर्व से ही शहर के कोने-कोने में उसने शोहरत कर दी कि अगले शनिवार को उसका मशहूर तमाशा 'भाग्य-चक्र' होगा। जन-समुदाय के हृदय में इस खेल के प्रति एक अनोखी भावना पैदा हो गयी। अधिक अवस्था वालों ने कुछ सोचा; नवयुवकों की धारणाएँ अपनी अलग ही थी।

आज शनिवार था। खेल सात बजे शाम से शुरू होनेवाला था। दोपहर से ही आसमान में बादल घिर आये। अँधेरा बढ़ने लगा। चार बजते-बजते तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानों रात्रि हो गयी हो।

पण्डित लीलाधर इसी समय कचहरी से वापस आये। आप शहर के प्रख्यात एडवोकेट थे। उम्र लगभग पैंतीस वर्ष की होगी। आपने अच्छी कीर्ति पैदा कर ली थी। जिस मुकदमे की पैरवी पण्डित जी करते, उस पक्षवालों की विजय अवश्य होती। सुबह से शाम तक उनके बँगले पर मुवक्किलों की भीड़ लगी रहती। रात को शान्ति से सोना और दिन को जरा आराम करना भी हराम था।

अनवरत कार्य-परायणता और पत्नी-वियोग ने उनके सुगठित शरीर को काफी क्षति पहुँचायी। पर इसकी चिन्ता उन्हें न थी। शायद ही कभी उनके दिमाग में अपने जीर्ण शरीर का ख्याल

पैदा हुआ हो। जब उनकी आयु तीस वर्ष की थी तभी पत्नी का स्वर्गवास हो गया था। अब बालिका उर्मिला और पण्डित जी, केवल दो ही प्राणी उस विशाल बँगले में रहनेवाले शेष रह गये।

पण्डित जी नयी रोशनी के आदमी थे। उन्होंने उर्मिला को अधिक से अधिक शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध कर दिया। उर्मिला खूब मन लगा कर पढ़ती।

साधारणतः पण्डितजी पाँच या साढ़े पाँच बजे शाम को कचहरी से वापस आते; पर आज इतनी जल्दी क्यों लौट आये ? उनके चेहरे पर कुछ उदासी के चिन्ह थे। इसी समय उर्मिला ने 'बाबू जी, बाबू जी !' कहते हुए कमरे में प्रवेश किया; पर उनके चिन्ताग्रस्त चेहरे को देख वह सहम गयी। शब्द मुख में ही रह गये। जबान थी, पर बोल न निकलता था। बच्चों की जैसी मनोवृत्ति होती है कि अपने प्रियजनों को दुखी देख उन्हें स्वयम् भी दुख होने लगता है, उर्मिला की भी वही दशा हो गयी। अपने पिता को दुखी देख कौन खुश हो सकता है ? अवसर पड़ने पर इन्सान—चाहे वह मर्द हो या औरत—दुख सहता है, अपने आन्तरिक भावों को छिपाने का भरसक प्रयत्न करता है; पर जब दुख असहनीय हो जाता है तो सङ्कोच का पर्दा टूट जाता है। आँखे भेद खोल देती हैं, सब बाते साफ तौर पर प्रकट हो जाती हैं। उर्मिला अधीर हो उठी, आँखों से आँसुओं की बूँदे जमीन पर टपक पड़ी—हृदय के कपाट खुल गये।

पण्डित जी विचारो मे इतने लीन थे कि उर्मिला के उन्हें सम्बोधित करते हुए कमरे में प्रवेश करने का उन्हें कुछ ध्यान ही न रहा। अपने जीवन में पत्नी-वियोग के पश्चात्

शायद यह पहला ही मौका था जब उन्होंने उर्मिला के प्रति इतनी लापरवाही से बर्ताव किया। एकाएक उनकी विचारधारा भङ्ग हुई। उन्हें सारी बातें स्वप्न सदृश प्रतीत हुईं। अपनी दशा पर अफसोस और आश्चर्य हुआ।

कुछ देर चुपचाप खड़े रहने के पश्चात् उर्मिला ने पिता जी का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—'बाबू जी, आज तो 'भाग्य-चक्र' खेल होनेवाला है। अमृता कहती थी, खेल बड़ा अच्छा होगा।'

'क्या वह खेल देखने जायँगी ?'

'हाँ बाबू जी, क्या आप न चलेंगे ?'

'नहीं, मैं तो न जा सकूँगा।'

'क्यों बाबू जी ? मेरे बाबू जी, अवश्य चलिये।'

'जा बेटी, तू खाना खा कर उनके साथ चली जाना। मुझे आज बहुत काम करना है।'

'काम फिर हो जायगा। दिन भर तो आप कचहरी में काम करते रहे और घर आकर भी दम नहीं। इधर आपका स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा है।'

पण्डित जी ने कुछ जवाब न दिया। उर्मिला अमृता के साथ जाने को तैयार हुई। जल्दी खाना खा, कपड़े पहन, साढ़े छः बजे अमृता के साथ खेल के मैदान में जा पहुँची। भीड़ अधिक थी, पर इत्तफाक से औरतों के लिए टिकट-घर अलग होने के कारण टिकट खरीदने में कोई दिक्कत न हुई।

× × ×

खेल समाप्त हुआ। अमृता और उर्मिला ताँगे पर घर लौटने लगीं। अमृता उर्मिला की दूर की रिश्ते से भाभी होती थी।

उसने मुस्कराते हुए पूछा—'खेल कैसा था उर्मी !'

'अच्छा था भाभी, खास कर वह स्थल जहाँ नलिनी और रज्जन के प्रेम की शुरुआत होती है बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।'

'हाँ, नलिनी ने पहले रज्जन के मिलन की कल्पना की थी, फिर उसके लिए चेष्टा; और आखिर में असफल होते-होते बची। भाग्य-चक्र ने पाँसा पलटा। अन्त में रज्जन के सर्वाङ्गीण मिलन की सफलता पर हर्ष के आँसू बहाये। और न कहोगी उर्मी ! सफल होने के कोई लक्षण न होते हुए भी भाग्य-चक्र ने मिलन का अवसर कितना सुन्दर और स्वाभाविक बना दिया है।'

उर्मी चुप रही। तब अमृता ने व्यंग-भाव से पूछा—'उर्मी, बताओ तो, मुझे अपने ननदोई को देखने का सौभाग्य कब प्राप्त होगा ?'

उर्मिला कुछ न समझ सकी। उसने भोलेपन से प्रश्न किया—'क्या कहा भाभी ?'

'यही कि तेरी माँग में सिन्दूर कब भरा जायगा ? और कौन ··? चाचा जी तेरे लिए मनचाहा लड़का ढूँढ़ेंगे या तू ही खुद भाग्य-चक्र के माफिक परख कर लेगी।'

उर्मिला झेंप गयी। लड़कियाँ अपने विवाह की चर्चा बड़े गौर से सुनती हैं परन्तु इच्छा होते हुए भी वे अपनी राय प्रकट करने में सकुचाती हैं।

'तुम भी भाभी हर समय मजाक किया करती हो !'

'इसमें चुहल की क्या बात? देखना है कभी तुम हाथ पीले न करोगी !' इतने में बँगले आ गये। दोनों अपने-अपने घर चली गयीं।

× × ×

उन दिनों शहर में नुमायश हो रही थी। यों तो धीरेन्द्र को मेला अथवा नुमायश जाने का चस्का न था, परन्तु मित्र-मण्डली सब कुछ करा लेती है। नरेन्द्र के बहुत आग्रह करने पर वह उसके साथ नुमायश चला ही गया। साढ़े आठ बजे रात को आतिशबाजी का प्रदर्शन शुरू हुआ। नरेन्द्र और धीरेन्द्र जिस स्थान पर खड़े आतिशबाजी का प्रदर्शन देख रहे थे, उसके बिल्कुल ही निकट तीन नवयुवतियों का एक समूह भी खड़ा था···फैशन के गर्त में डूबा-सा। वे लिबास और हाव-भाव से कालेज की छात्राएं जान पड़ती थी। आँखों की कनखियो की अपनी एक अलग महत्ता है और फिर नारी की कनखियों से ईश्वर ही बचाये।

धीरेन्द्र उर्मिला की कनखियों के प्रहार से अपने आप को न बचा सका। उसके हृदय की धड़कन बढ़ गयी और एक विशेष प्रकार की गुदगुदी का अनुभव हुआ। उसे भ्रम हुआ मानों उसकी आँख में किसी मौन सङ्केत की सूचना हो।

आतिशबाजी समाप्त होते ही धीरेन्द्र जान-बूझ कर नरेन्द्र का साथ छोड़, उसकी आँख बचा, उर्मिला के पीछे चल पड़ा। वह पीछे-पीछे चल रहा था और उर्मिला पीछे मुड़-मुड़ कर देखती जाती थी। उस दिन नुमायश में भीड़ गजब की थी। इत्तफाक से उर्मिला का साथ उसकी अन्य सहेलियों से छूट गया। वह घबड़ा उठी। करीब आध घण्टे तक इधर-उधर ढूंढते रहने के पश्चात् वह गेट से बाहर हो गयी। धीरेन्द्र ने स्टैंड से साइकिल ली और मन ही मन कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे पैदल ही चल दिया। उर्मिला ने बढ़कर एक ताँगे वाले से पूछा—'हजरतगञ्ज चलोगे?'

'जी हजूर, क्यों नहीं ? आइये, बैठिये !'

'कितने पैसे ?'

'जो रेट है सरकार, दे दीजियेगा। आपसे कुछ ज्यादा थोड़े ही ले लूँगा।'

'फिर भी ?'

'यही, बारह आने दे दीजियेगा।'

उत्तर में उर्मिला ने छः आने कह दिये। ताँगेवाले के चेहरे पर स्वीकृति का भाव न पा वह आगे बढ़ गयी। कई ताँगेवाले मिले, पर आठ आने तक में भी कोई चलने को राजी न हुआ। धीरेन्द्र यह सब सुनते मन्द-मन्द गति से चला जा रहा था। आखिर उसने शायद पैदल ही चलना निश्चय किया। नवयुवक के हृदय में एक टीस उठी—क्या ये गोरे-गोरे सुकुमार, पुष्प से भी नाजुक पैर एक मील चलने का कष्ट सहन कर सकेंगे ?

मनुष्य का अन्तःकरण हमेशा सत्परामर्श देता है। उस परामर्श को मानना अथवा न मानना मनुष्य पर निर्भर है; पर अन्तःकरण की प्रेरणाओं को बार-बार ठुकराने से उसे एक ठेस लगती है। इन धक्कों के बराबर लगते रहने पर अन्तःकरण की वह शक्ति क्षीण होती जाती है और अन्त में परामर्श देने की शक्ति बिलकुल ही नहीं रह जाती—मर जाती है। धीरेन्द्र की यह शक्ति अभी जीवित थी। उसका अन्तःकरण किसी कर्तव्य की प्रेरणा करने लगा, यद्यपि उसमें स्वार्थ की मात्रा होगी। बगैर कुछ सोचने के लिए रुके, उसने साइकिल पर बैठ साइकिल तेज की। करीब तीस गज जाने पर एक खाली ताँगा नुमायश की ओर आता मिला। धीरेन्द्र ने उसे रोक कर प्रश्न किया—'हजरतगञ्ज चलोगे !'

'हाँ बाबू जी !'

'अच्छा देखो !'—उसने ताँगेवाले के हाथ में एक रुपये का नोट देते हुए कहा—'वे जो देवी पीछे आ रही हैं, उन्हें हजरतगञ्ज पहुँचा दो, तुम्हारा किराया यह है।'

बूढ़े ताँगेवाले ने खखारते हुए रूई की बण्डी की जेब से छः आने पैसे निकाले और धीरेन्द्र की ओर बढ़ा दिये।

'यह पैसे कैसे ?'

'बाबूजी, दस आने मजदूरी के मैंने काट लिये, बाकी लौटा रहा हूँ।'

'नहीं, इन्हें तुम रख लो।'

'बाबू जी, उतना ही खाना चाहिये जितना पेट में समा सके।'

'नहीं, तुम्हारी उचित मजदूरी के अलावा यह तुम्हारा इनाम है। लेकिन जल्दी करो।'

बुड्ढा 'अच्छा' कह ताँगे पर बैठा और चाबुक मार घोड़े को आगे बढ़ा दिया। कुछ गज चलाया ही था कि उर्मिला के नजदीक पहुँच गया।

उर्मिला ने पूछा—'हजरतगञ्ज ?'

'आइये सरकार !'

'क्या लोगे ?'

'जो सरकार दीजियेगा, मुझे एतराज न होगा।'

वह ताँगे पर बैठ गयी। धीरेन्द्र एक दूसरी सड़क से लौट ताँगे के पीछे-पीछे कुछ अन्तर से चलने लगा। कुछ देर में हजरतगञ्ज आ गया। ताँगा रुका। धीरेन्द्र कुछ दूर ही साइकिल से उतर, खड़ा हो गया। उर्मिला ने आठ आने निकाल ताँगेवाले की ओर बढ़ा दिये।

'सरकार मुझे मजदूरी मिल चुकी है।'—बुड्ढे ने आँखें झपकाते हुए जवाब दिया।

उर्मिला हैरत में पड़ गयी कि आखिर ताँगेवाला कैसी आश्चर्य की बात कर रहा है। उसने आँखें फाड़कर पूछा—'क्या कह रहे हो? मजदूरी किसने दी?'

'जी जी...सरकार, वह बाबू साहब जो साइकिल पकड़े हुए खड़े हैं। ..जी...उन्होंने मुझे एक रुपया दिया है।'

'उन्होंने क्यो दिया?'

'कह नही सकता, सरकार।'

'अच्छा उन्हें पास बुलाओ।'

ताँग वाले ने पुकारा—'बाबूजी, जरा इधर आइये।'

धीरेन्द्र यह अवसर चाह ही रहा था। वह उसके पास पहुँच गया। कुछ क्षण तक सब के सब चुप खड़े रहे। फिर उर्मिला ने साहस एकत्र करते हुए नारी-सुलभ सङ्कोच से पूछा—'जी...आपने इन्हें ताँगे का किराया दिया है?'

'हाँ ..सोचता तो हूँ।'

'क्यों?'

'आप परेशानी में थीं।'

'लीजिये आपका रुपया सधन्यवाद वापस कर रही हूँ।'

'नहीं, मुझे उसकी जरूरत नही है। रहने दीजिये।' वह आगे बढ़ने वाला ही था कि उर्मिला ने कहा—'क्या आप बँगले पर कल सन्ध्या समय आने का कष्ट कर सकेंगे?'

'जी, क्यों नही।'

वह कोलतार की काली-काली सड़क पर चला जा रहा था

भावनाओं के साम्राज्य के बीच पथ टटोलता। उस रात खाना खाकर वह बिस्तर पर लेटा। ऊपर का आकाश तारों से भरा था। उसके और तारों के बीच के शून्य अनन्त में कल्पनाओं का राज्य था। तारों से बार-बार उसकी कल्पना यही प्रश्न कर रही थी—'तुम क्या सोच, हँस रहे हो!'

× × ×

शाम हो रही थी। निस्तब्धता का चारों ओर वातावरण था—धीरेन्द्र पण्डित लीलाधर के बँगले पर जा पहुँचा। नौकर के खबर देने पर मिस उर्मिला निकली और धीरेन्द्र से बैठने का इशारा किया। कुछ मिनट रुक कर उर्मिला ने बातचीत का सिलसिला शुरू किया—'आपका शुभ नाम?'

'मुझे धीरेन्द्र कहते हैं।'

'आप यहाँ कहाँ रहते हैं?'

'सिविल लाइन्स में। और आपका शुभ-नाम मैं जान सकता हूँ?'

'इस नाचीज को उर्मिला कहते हैं?'

बातचीत का तॉता जारी था कि इतने में लीलाधर ने कमरे में प्रवेश किया। उर्मिला सकपका गयी। उसने पिता के कुछ बोलने के पूर्व ही कहा—'बाबू जी, ये धीरेन्द्र बाबू हैं। एम० ए० में पढ़ते हैं। पिछली सोमवती अमावस्या को मैं रास्ता भूल गयी थी। इन्होंने कृपा कर रास्ता बता यहाँ तक मुझे पहुँचा दिया। आज मैंने इन्हें चाय पीने के लिए बुला लिया है।'

पण्डित जी के सिर में दर्द होने की वजह से उन्होंने कुछ अन्यमनस्क हो कहा—'हलो धीरेन्द्र! मैं तुम्हें देख बहुत खुश हूँ'—हाथ मिलाया और चन्द मिनटों में कमरे से बाहर सोने के कमरे में आराम करने चले गये।

उर्मिला खुश थी, पिता को बहाने में ही झाँसा दे दिया। चाय आ चुकी थी। दोनों पीने लगे। फिर करीब आध घण्टे तक इधर उधर की बातें करते रहने के पश्चात् फिर कभी आने का वादा कर धीरेन्द्र उठ कर चला गया।

वसन्त कभी का बीत चुका था। संसार गर्मी से पीड़ित हो रहा था। शहर का काङ्ग्रेस-पार्क गुलजार हो उठा। धीरेन्द्र को घूमने का बहुत शौक था। रोज शाम को वह पार्क की तरफ निकल जाता है। एक दिन इत्तफाक से उसे किसी परिचित-सी नवयुवती के बैञ्च पर बैठे होने का भ्रम हुआ। वह उसके जरा निकट पहुँच गया। समक्ष उर्मिला थी। उसने उसे देखते ही कहा—'ओहो! धीरेन्द्र बाबू तुम यहाँ? बड़े झूठे निकले। उस दिन से उस तरफ कभी आये भी नहीं।'

'क्या करूँ, इधर फुरसत ही न मिली। हां, मैं· ·।'

उर्मिला ने बात काटते हुए कहा—'अच्छा यह बतलाइये कि कल पिक्चर देखने चल सकेंगे?'

'पिक्चर···?'

'नहीं, आप तैयार रहियेगा। छः बजे मैं आऊँगी।' फिर कुछ सामयिक प्रश्नों पर बातचीत कर दोनों विदा हुए।

रजत-पट पर मानवीय-कृत्यों का दिग्दर्शन बाक्स में बैठे हुए धीरेन्द्र और उर्मिला के हृदयों में कम्पन पैदा कर रहा था। जब मनुष्य इच्छा का दास हो जाता है तो वह उचित-अनुचित का ज्ञान खो बैठता है। धीरेन्द्र भी अपने को अपवाद न सिद्ध कर सका। उसका हृदय बार-बार आग्रह करने लगा कि वह उर्मिला को अपने बाहुपाश में बांध ले। पर झिझक थी।

मनुष्य स्वतन्त्र जन्मता है। उसका अपना स्वतन्त्र चिन्तन और विचार-शक्ति होती है। दुनिया का दूषित वातावरण उसकी उस शक्ति को क्षीण करने का हमेशा प्रयत्न करता है और उस प्रहार का मुकाबला न कर सकने पर वह क्रमशः घटते-घटते शून्य हो जाती है। धीरेन्द्र अभी उस शून्य की पतन-सीढी तक न पहुँचा था; इस कारण कुछ हद तक स्पृहा को प्रतिबन्ध लगाये रह सका। पर उस सीमा को पार करते ही अनायास ही उर्मिला का हाथ उसने अपने हाथों में ले लिया। उसे रोमाञ्च हो आया और फिर उर्मिला को बाहुपाश में बांध उसके कपोलों पर होठों द्वारा प्रेम की परिभाषा लिख दी। हृदय तीव्र गति से स्पन्दन कर रहा था। उसे एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव हुआ। कुछ क्षण के लिए वह संसार को बिलकुल भूल गया। उर्मिला ने अपने शरीर को उसके बाहुपाश में ढीला छोड़ दिया। जगत् की एक अत्यन्त मूल्यवान चीज उसकी गोद में पड़ी थी। सहसा इंटरवल की घंटी बजी, उसे होश आया। रूप के नशे में वह पाप-पुण्य का अन्तर भूल चुका था। उसने उर्मिला को एकदम छोड़ दिया। हाल बिजली के प्रकाश से जगमगा उठा था। उसका सुखस्वप्न टूट गया था। उसे अनुभव हुआ मानों वह स्वर्ग से नरक में ढकेल दिया गया हो। कुछ क्षण भूमि की ओर एकटक ताकते रहने के पश्चात् उसने उर्मिला से पूछा-'पिक्चर कैसी है ?'

'अच्छी है !'—उर्मिला ने धीमे स्वर से एक ठण्डी आह भरते हुए कहा।

'ये ठण्डी आहें क्यों ?'

उसकी आंखों से आंसू चमकने लगे। 'काश ! हम भी इसी

तरह की एक दुनिया बसा सकते।' धीरेन्द्र को भ्रम हुआ मानों उर्मिला की आंखों से ढल ढल कर मदिरा गिर रही हो, अंगूर की मदिरा नहीं; वह तो रुपये चुका खरीदी जा सकती है; परन्तु वह थी मदिरा स्नेह की, अनमोल। स्त्री के आंसुओं में वह शक्ति होती है कि वह अपने आंसुओं से बड़े-बड़े कठोर हृदयों को भी पिघला सकती है फिर धीरेन्द्र का हृदय ही द्रवित हो आया तो इसमें आश्चर्य को स्थान कहाँ!

रजत-पट पर चित्र फिर बनने और विगड़ने लगे थे, परन्तु ये दोनों हृदय किसी दूसरे ही कल्पना जगत मे भ्रमण कर रहे थे। धीरेन्द्र ने गम्भीरता से कहा—'उर्मिला, तुम न जाने ऐसा क्यों सोचती हो? घबड़ाने से जीवन में काम नहीं चलता। जिन्दगी की जटिल समस्याओं को हम कन्धे से कन्धा मिलाकर सुलझायेंगे। क्या हमारे 'मधुर-मिलन' में तुम्हें सन्देह है?'

'मधुर-मिलन! मधुर-मिलन तुम किसे कहते हो! वह तो मधुर-मिलन का स्वाँग है—यथार्थ में वियोग है।'

'वियोग नहीं, हमारा मधुर-मिलन हो चुका। जब दो हृदय एक दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं तो वे मिलन के लिए छटपटाते हैं। एक के सपने दूसरे की आँखे बटोर लेती हैं। हृदयों में कल्पनाओं का एक सागर उमड़ आता है। दोनों की कल्पनाएँ और स्वप्न अनन्त शून्य में एक निर्दिष्ट स्थान पर मिलते हैं तभी मधुर-मिलन हो जाता है। अब सन्देह को स्थान क्यों कर?'

पन्द्रह मिनट में पिक्चर समाप्त हो गयी। उर्मिला और धीरेन्द्र अपने-अपने घर पहुँच गये।

समय की गति के साथ एक का दूसरे के यहाँ आना-जाना

बढ़ता गया। किसी को उनके क्षणिक मिलन का अवसर बुरा न मालूम पड़ा। यद्यपि पण्डित लीलाधर भी अब इस प्रेम-गाथा से भली भाँति परिचित हो चुके थे; परन्तु उन्होंने भी कोई आपत्ति न की। इकलौती लड़की पत्नी-वियोग के अन्धकारमय जीवन-पथ पर समय-समय पर जुगनू की भाँति चमक पथ-निर्देश करती थी। उनकी इच्छाओं और आशीर्वाद का पात्र आखिर उसके सिवाय और कौन होता? इसके अलावा धीरेन्द्र के आचरण के सम्बन्ध में उनका हृदय साफ था। ऐसी परिस्थिति में वे उर्मिला के लिए धीरेन्द्र के अतिरिक्त और किसी योग्यतर वर की कल्पना ही न कर सके।

लड़के और लड़की को वैवाहिक जीवन का अधिकांश भाग माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ही व्यतीत करना पड़ता है। एक के जीवन की जिम्मेदारी दूसरे पर पड़ जाती है। तब यह कितना आवश्यक हो जाता है कि विवाह-सूत्र की गाँठ खूब सोच समझ कर इस करीने से लगायी जाय कि भयानक से भयानक परिस्थिति में भी न खुले—दोनों की जीवन-सन्ध्या के समय में ही वह प्रथम और साथ ही साथ आखिरी बार के लिए खुले। लीलाधर के विचार में विवाह के लिए आपस में वर-वधू का एक दूसरे को पसन्द कर सहमत होना जरूरी है और तत्पश्चात् एक अनुभवशील व्यक्ति की हैसियत से माता-पिता की स्वीकृति और आशीर्वाद।

धीरे-धीरे छः महीने बीत गये। एक तो लड़कियाँ यों ही पानी की बाढ़ की तरह बढ़ती हैं और फिर उर्मिला सोलहवाँ साल पूरा कर रही थी। पण्डित जी के मस्तिष्क में विवाह समस्या आ

कर उपस्थित हो गयी। उन्होंने अपने मन के भावों को धीरेन्द्र के समक्ष व्यक्त ही कर देने का निश्चय किया।

आज जब धीरेन्द्र बँगले पर पहुँचा तो लीलाधर बैठे अखबार पढ़ रहे थे। उसे पास बैठाते हुए पंडित जी ने कहा—'धीरेन्द्र, मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करोगे?'

'मैं आपकी किस सेवा के योग्य हो सकता हूँ?'

धीरेन्द्र, की आँखों की पलकें अदृश्य में ही स्वीकृति के भाव-प्रदर्शन में झुक गयीं, लेकिन उसने अपने हृदय के भावों को छिपाने का प्रयत्न करते हुए उत्तर दिया—'यह आप क्या कह रहे हैं? कहाँ आप एक उच्च-कुल ब्राह्मण और कहाँ मैं खत्री का एक तुच्छ बालक!'

'इसकी तुम चिन्ता न करो। मैंने सब सोच लिया है। तुम्हें आपत्ति न होनी चाहिये। मेरी तरफ से कोई एतराज नहीं।'

'मुझे स्वीकार है··पर पिता जी···?'

'वे तो अब कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। यक्ष्मा रोग ही ऐसा है कि जीवन की आहुति ही लेकर विदा होता है। मैं भी नही चाहता कि उनकी जिन्दगी मे ही तुम शादी कर बुढ़ापे में उनके हृदय को पीड़ा पहुँचाओ।'

वह चुप रहा!

× × ×

धीरेन्द्र के पिता का देहान्त हुए एक महीना बीत चुका। अब वह एम० ए० सर्व-प्रथम श्रेणी में पास हो चुका था। एक दिन सिविल-मैरेज एक्ट ने उर्मिला और उसे प्रणय-बन्धन मे बाँध

दिया। अब दो हृदय उल्लास का झूला झूलने लगे।

× × ×

उर्मिला ससुराल से लौट आयी थी। चन्द्र की शुभ्र चाँदनी चारों ओर बिखरी पड़ी थी। धीमी-धीमी बयार बह रही थी। आकाश फूल-सी हँसती हुई किन्ही वस्तुओं से भरा था। उर्मिला और अमृता बँगले की चाँदनी पर टहल रही थीं। सहसा भाभी ने ठिठोली के भाव से कहा—'कहो उर्मी, मुझे क्या पुरस्कार दे रही हो?'

'कैसा पुरस्कार?'—उर्मी ने विस्मित हो पूछा।

'भोली बनती हो? पूछती हो कैसा पुरस्कार!'

'भाभी, किस बात के लिए पुरस्कार; सुनूँ भी तो!'

'मेरी भविष्यवाणी के लिए।'

'ऐं! भविष्यवाणी!! कौन-सी?'

'इतनी जल्दी भूल गयीं? क्या याद नहीं, मैंने कहा था, कहीं तुम भी भाग्य-चक्र के समान ही लाखों-करोड़ों फूलों में से अपने हृदय के लिए अनुपम पुष्प की परख न कर लेना।'—यह कहते हुए वह हँस दी।

उर्मिला की पलकें झुक गयी और ओठों से मुस्कराहट छलक पड़ी।

ईयर-रिंग्स

प्रमोद ने आफिस से लौट कर ज्योंही घर में पैर रखा, विनीता ने मधुर मुस्कराहट से उसका स्वागत किया। उसकी सारी थकान को दूर करने में पत्नी की मुस्कराहट ने जादू का काम किया।

कपड़े उतारते हुए प्रमोद ने रज्जू को पुकार कर कहा—'क्यों रे, आज मालूम देता है चञ्चल धूप में ही पड़ा रहा। तुम लोगों को तो महीने की पहली तारीख को वेतन से काम, चाहे किसी का कुछ भी क्यों न बिगड़े, तुम्हें सरोकार नहीं।'

रज्जू सिटपिटा गया—'नही सरकार, अभी-अभी पॉच मिनट हुए है, वह आकर यहॉ पड़ रहा है। न माने तो मॉ जी से पूछ लीजिये।'

बगैर पूछे ही रज्जू की सिफारिश करते हुए विनीता बोल उठी—'जी हॉ, रज्जू ठीक कह रहा है।'

प्रमोद शान्त हो गये।

इधर चञ्चल ने जो प्रमोद की आवाज सुनी तो झट उठकर उनके पैरों से लिपट, पूँछ हिलाने लगा। उन्होंने कुर्सी पर बैठ, उसकी पीठ पर हाथ फेरना शुरू किया।

इसी समय द्वार पर किसी ने आवाज दी। रज्जू तुरन्त बाहर गया और दो हल्के हरे रंग के लिफाफों के साथ वापस आया। प्रमोद ने एक लिफाफा विनीता को दे दिया और दूसरे को स्वयं खोल लिया। दोनों ही निमन्त्रण-पत्र थे। ता० १६ को शहर के रईस बाबू श्यामप्रकाश की लड़की की शादी थी। निमन्त्रण-पत्र

पढ़ते ही विनीता के चेहरे का गुलाबी रङ्ग फीका पड़ गया। किसी के घर बुलावे में जाना उसे अच्छा न लगता था। इसका कारण इसके अतिरिक्त और कुछ न था कि उसे स्त्री-जीवन की प्रिय वस्तु आभूषण नसीब न हुए थे। यद्यपि वह साहित्यिक क्षेत्र में यथेष्ट दखल रखती थी, न जाने कितनी किताबें उसने पढ़ी थी ; अधिकांश में गहनों को बुरा ही बतलाया था; परन्तु उनकी ओर नारी की स्वाभाविक रुझान को उसका अब तक प्राप्य ज्ञान हटा न सका। गहनों का अभाव हर वक्त नही तो समय-समय पर उसके हृदय में एक चुभन पैदा कर ही दिया करता था।

जिस दिन की उपेक्षा विनीता करना चाहती थी, वह मनहूस दिवस आ ही पहुँचा।

'आज जरा जल्दी ही दफ्तर से आ जाना होगा। शाम को शादी में चलना है न।'—प्रमोद ने विनीता को इङ्गित करते हुए कहा।

विनीता ने कुछ उत्र भारी आँखों से उत्तर दिया—'मेरा जाना सम्भव न हो सकेगा।'

'क्यों ?'

'कितनी बार आप इसका उत्तर चाहते हैं ? जब से मेरे जीवन की गाड़ी में एक से दो पहिये हुए, मेरे जीवन की काल्पनिक जलधारा किसी दूसरी ही दिशा में प्रवाहित होने लगी।'

'ऐसा तुम्हें क्या दुःख है जो जीवन से इतनी उदासीनता अख्तयार कर रखी है ?'

'दुःख ! बार-बार रोने से फायदा क्या; कोई दूर करने वाला तो दीख नहीं पड़ता !'

'न जाने तुम ऐसा क्यों समझती हो। नौकर चाकर तुम्हारे यहाँ, घर मे साधारणतया खाने-पीने को भी यथेष्ट, पहिनने-ओढ़ने को कपड़े-लत्ते भी पर्याप्त।'

'क्या आपकी समझ में इन चीजों के अतिरिक्त नारी को और किसी चीज की आवश्यकता ही नहीं?'

'क्यों नहीं, सन्तान! सो तुम्हें कई दफा माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका, लेकिन ईश्वर की मर्जी, चञ्चलता की लहर जगाने वाला कोई न रहा।'

'बस और भी कुछ?'

'मै तो इतनी चीजों की उपस्थिति में और किसी चीज़ की जरूरत महसूस नहीं करता।'

'और क्या उसे भूल ही गये जिसकी मै आप से बार-बार प्रार्थना कर चुकी हूँ?'

'क्या?'

'जिसके बगैर स्त्री-जीवन में सब चीजों के रहते हुए भी · एक···अधूरापन···अनुभव ··। आभूषण।'

'इतनी लड़खड़ाती हुई-सी क्यों बोल रही हो?'

'जी हाँ, आपको ऐसा ही मालूम पड़ रहा है। मेरे जी में इस बात का जितना कोह है उसे नारी-हृदय ही अनुभव कर सकता है, पुरुष-हृदय उसकी कल्पना भी क्यों कर कर सके। जिस दिन से इस घर में पैर रखा, आपके एक छल्ले की भी तो कायल नहीं।'

'होती भी क्यों! क्या मैंने तुम्हारे छल्ले बनवाने का ठेका ले रखा है या श्वसुर साहब ने इसके लिए मुझे कुछ रकम दे दी

थी? स्त्री के जीवन में पति और बच्चे किन आभूषणों से कम हैं?'

फिर उन्होंने टेबिल पर रखी घड़ी की तरफ जो नजर फेरी तो देखा, साढ़े नौ बज चुके थे। ठीक दस बजे आफिस में उप-स्थिति आवश्यक थी। 'लो, आज भोजन भी मयस्सर न हो सकेगा। व्रत ही करना पड़ेगा। ललनाएँ किसी मनोरथ-सिद्धि की आशा से व्रत रखती हैं; परन्तु अभागे पुरुष को नारी के नित्य प्रति के प्रपंच ही पका देते हैं और वह व्रत रखने के लिए बाध्य हो जाता है। प्रथम वर्ग में इस अवसर पर आकांक्षाएँ, कल्पनाएँ और उनकी पूर्ति का एक सुखद व्यवधान हुआ करता है, लेकिन द्वितीय वर्ग के हृदय में उलझे हुए सांसारिक झमेलों को सुलझाने की एक विषादमयी चिन्ता···उसके व्रत और नेम का यही प्रसाद है।'—कहते हुए उन्होंने खूँटी पर से उतार कर कोट पहना और पैरों में जूते डाल लिये जो जगह जगह से जवाब दे चुके थे।

विनीता ने मानों प्रमोद के अन्तिम वाक्य सुने ही नहीं। वह सागर की भाँति अपनी सीमा के भीतर ही रही। पुरुष समय समय पर अपनी सीमा का उल्लङ्घन कर जाता है, लेकिन नारी में ऐसे अवसर बहुधा कम आते हैं। उसके हृदय के उद्गार शान्ति की प्रतिमूर्ति हुआ करते हैं।

× × ×

बाबू श्यामप्रकाश की लड़की की शादी समाप्त हो गयी। विनीता उसमें शामिल न हुई। प्रमोद को इससे बहुत दुःख हुआ। इस घटना ने उन्हें ऐसा बना दिया कि उन्हें हर समय हर तरफ से झिड़कियों का ही आभास होने लगा—'अपनी हृदयेश्वरी से प्यार करते हो! जो तुम्हें देव समझती है, तुम्हारे सुख को अपना सुख

और तुम्हारे दुख को अपना दुख मानती है; उसकी आशाओं को पूरा नहीं कर सकते। तुम पुरुष हो ! धिक्कार तुम्हारे जीवन को।'

इस प्रकार की झिड़कियों का हर वक्त आभास होते रहने से प्रमोद को विनीता की मांग पर विचार करने के लिए विवश होना पड़ा। लेकिन आभूषण खरीदने के लिए अच्छी रकम की आवश्यकता थी और एक साधारण हैसियतके मनुष्यके लिए जिसकी ऊपरी आमदनी कुछ भी न हो, केवल गहनोंके लिए ही हजार पाँच सौ रुपये जुटा सकना सम्भव नहीं। लेकिन मालूम नही क्यों वे इस निश्चय के लिए बाध्य हो गये कि विनीता के लिए अधिक नहीं तो दो-एक चीज बनवानी ही होगी।

दुनिया में किसी को भी चिन्ता से मुक्ति नहीं और फिर पुरुष को—जिसके समक्ष गृहस्थी का भार वहन करने की समस्या हो—सपने में भी नहीं। हाँ, पुरुष की प्रकृति अवश्य ऐसी होती है कि उसकी ये चिन्ताएँ उसके चेहरे पर परिलक्षित नहीं होती। ऐसा उसी अवस्था में सम्भव है जब उसकी सहन-शक्ति का बाँध टूट जाता है। प्रमोद ने आवश्यकता से अधिक इस बात को चेष्टा की कि विनीता को यह अनुमान न होने पावे कि उन्हें किसी समस्या ने उलझन में डाल रखा है, परन्तु मनुष्य की कमजोरी। विनीता की पैनी दृष्टि से यह बात छिपी न रह सकी और एक दिन वह पति से पूछ ही बैठी—'आजकल आप बहुत खिन्न रहते हैं, ऐसा क्यों ?'

'कही तो नहीं !'—प्रमोद ने अपने मन के भाव दबाने की चेष्टा करते हुए कहा।

'मै कैसे मान लूँ? इधर कुछ दिनों से आपका हर काम

अव्यवस्था और आतुरता से भरा हुआ दीख पड़ता है। न समय से खाना, न समय से आराम। झटपट आये, उल्टी-सीधी एक-दो रोटी पेट में डाली और बाहर चलते बने। जैसे घर काट खाने को दौड़ता हो। रात को सोते समय भी मैंने देखा कि अक्सर आप सोते-सोते कुछ बड़बड़ाया करते हैं। क्या ये सब बातें आपकी बदली हुई मनोवृत्ति का परिचय नहीं देतीं ?'

प्रमोद ने प्रसंग बदलने के अभिप्राय से कहा—'जरा मेरी टोपी तो ला दो, आफिस जाना है।'

'अजी, आज छुट्टी के दिन भी आफिस !'

'हाँ, जरा पिछला काम बाकी रह गया है, दो-तीन दिन में मुआइना होने वाला है।'

'ऊँह ! हर समय मुआइना, मुआइना ! अच्छी बला हुआ यह मुआइना ! आज रहने भी दीजिये।'

'साहब के समक्ष काम पूरा न हो सकने के लिए जवाबदेह तो मैं ही होऊँगा।'

'आपकी जगह मैं हो जाऊँगी।'–विनीता ने मुस्कराते हुए कहा।

प्रमोद ने खूँटी पर टँगी टोपी ले, हँसते हुए बाहर का रास्ता लिया। आफिस जाने का तो एक बहाना मात्र था। विनीता दरवाजे पर खड़ी देखती रही।

दो-चार यार-दोस्तों के दरवाजों की खाक छान चुकने पर भी जब मनोरथ सिद्ध होता नजर न आया तो वे हताश हो गये। एक उलझन उपस्थित हो गयी। आज घर से मनमें यही निश्चय करके निकले थे कि एकाध आभूषण खरीद कर ही वापस आऊँगा, परन्तु आगे निराशा थी और पीछे आशा।

अन्त में गंगू महाजन की बन आयी। उसने अपना उल्लू सीधा किया। प्रमोद बाबू रुपये लेकर सराफे जा पहुँचे। दो-चार चीजें देखी-भाली। जी चाहता था, सभी खरीद ली जायँ—एक से एक नफीस चीज। विनीता का विदग्ध हृदय उन्हें पा, कितना खुश होगा! लेकिन एक विवशता थी। बहुत सोच विचार के पश्चात् उन्होने एक जोड़ी ईयर-रिंग्स खरीदे और घर की ओर चल दिये।

घर पहुँच कर देखा तो विनीता खाना बनाने में लगी थी। शाम के पांच बज चुके थे। कपड़े उतार, हाथ-मुँह धो, जैसे ही वे निवृत हुए, विनीता ने कहा—'बाबू जी, खाना तैयार है। आइये मैं थाली लगा रही हूँ।'

वे चौके में जा पहुँचे। उनका जी पत्नी को ईयर-रिंग्स देने के लिए मचल रहा था, परन्तु सुअवसर ढूँढ़ रहे थे। क्योंकि किसी कार्य के सुअवसर पर सम्पादित होने पर उसकी महत्ता लाख दर्जे बढ़ जाती है।

दूसरे दिन इत्तफाक से रविवार था। विनीता शीशे के समक्ष बैठी शृङ्गार कर रही थी। तभी दबे पाँव कमरे मे प्रमोद बाबू ने प्रवेश किया। डिबिया से से एक ईयर-रिंग निकाल, हाथ में ले, विनीता से कहा—'देखूँ, तुम्हारे कान में यह क्या हो गया है?' उसने कङ्घा टेबिल पर रखते हुए अपनी गर्दन पीछे खड़े हुए प्रमोद की ओर घुमा दी। उन्होंने कान देखने का बहाना कर ईयररिङ्ग उसके कान मे पहिना दिया। उसने फिर से जो सामने गर्दन झुकायी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो ईयररिंग पहिनने से उसकी सुन्दरता मे चार चांद लग गये।

इतने में प्रमोद भी हाथ टेक, मेज पर सिर झुका खड़े हो गये।

विनीता ने उनको ओर कनखियों से देखा और उसके ओठों पर मुस्कराहट नाच उठी। तत्पश्चात् उन्होंने दूसरी ईयररिंग भी पहना दिया और उसके दोनों कपोल चूम लिये।

विनोता ने आज अपनो आकांक्षाएँ पूर्ण होती पायीं। उसका मन-मयूर नाच उठा, हृदय डोलने लगा और वह मस्ती में भर, गा उठी :—

"कैसी खिली मेरे मन की कली
मन की कली........
चुपके प्यारे साजन आये,
सुख-सपनों का साज सजाये,
मेरे जीवन की ज्योति जगाये,
मन माँगा पिया आज लाये,
अब तो जीवन अधूरा नहीं,
मन-मन्दिर भी सूना नहीं,
प्रीतम के प्यार में—
निशि-दिन पली जो कभी न खिली,
आज कैसी खिली मेरे मन की कली
मन की कली... ... ..."

उसके स्वर में लोच था। प्रमोद ने अनुभव किया कि सात वर्ष के वैवाहिक जीवन में विनीता के मुँह पर जो काली घटा का साम्राज्य था वह हट गया और पूर्ण चन्द्र की किरणें अपनी ज्योत्स्ना बिखेरने लगी। वे भी मन्त्र-मुग्ध हो, खड़े थे।

× × ×

क्षणिक सुख के पश्चात् साधारण हैसियत के मनुष्य को न

जाने कितनी चिन्ताएँ घेर लेती हैं। प्रमोद हर महीने वेतन में से पाँच रुपये गंगू महाजन के हवाले करने लगे। अधिक समय न लगा; चन्द महीनों में ही ऋण से छुटकारा हो गया।

चार महीने और गुजर गये। दोनो के जीवन में सुख की सरिता वह निकली। परन्तु दुनिया तो किसी को फलता-फूलता नहीं देख सकती न। वह तो उत्सुक आँखो से ताकती रहती है कि कब किसके मुँह का कौर छीन ले।

प्रमोद जिस मकान में रहते थे उससे ही लगी हुई एक डाक्टर साहब की बड़ी हवेली थी। उन दिनो डॉक्टर साहब सपरिवार दिल्ली गये हुए थे। उम्मीद थी कि जल्दी ही लौट आवेगे, परन्तु कार्यवश एक हफ्ते से अधिक रुक जाना पड़ा। इसी बीच एक रात उनके घर चोरी हो गई। प्रमोद के हृदय पर साँप लोट गया। क्योंकि डाक्टर साहब और उनके बीच मनमुटाव था—मुमकिन है वे उन्हें भी अपना शिकार बना ले; जिस बात की आशङ्का थी हुई भी वही। डाक्टर साहव ने अन्य लोगों के अतिरिक्त प्रमोद पर भी दावा कर दिया। जिस दिन से यह विदित हुआ, विनीता खाना-पीना सब कुछ भूल गई। दिन-रात रोते रहने के कारण उसकी आँखे, आँखें न रहीं।

उसका जीवन-धन लोहे के सीकचों के भीतर परतन्त्र था और वह बाहर स्वच्छन्द होते हुए भी परतन्त्रता का अनुभव कर रही थी। उसने पति को निर्दोष साबित करने के लिये कोई बात उठा न रक्खी; परन्तु कर्मचारियों के हाथ सफेद-सफेद चमचमाती गोल वस्तुको चुपके से दबाने के अभ्यासी थे। वहाँ तो न्याय की तराजू के पल्ले सफेद-सफेद चमकती हुई चीजों से भारी या हल्के होते है।

प्रमोद को चार महीने कठिन कारावास सहना होगा और साथ ही पचास रुपये जुर्माना भी, तथा जुर्माना न अदा होने पर सजा की मियाद में तीन महीने की बढ़ती।

विनीता ने सब सुना। उसके दोनों कान खुले थे, लेकिन उसकी व्याकुलता और विवशता उसी श्रेणी की थी जैसी कि इक्के के मालिक को अड़ियल टट्टू मिल जाने पर! टिक्...टिक्...टिक् और चाबुक की सड़ाक-सड़ाक आवाज, पर इक्का जौ भर भी आगे बढ़ता नहीं और उस पर भी मुसाफिरों की धमकी—हम अभी उतरे जाते हैं!

वह सोच रही थी—उन्हें सजा से किस भाँति बरी कराया जा सकता है। उसकी आँखों में कितनी वेदना, विवशता और पराजय समा रही थी। यदि किसी प्रकार कारावास का समय भी समाप्त हो गया तो दूसरा मसला हल करने को शेष रह जायगा—जुर्माने की अदायगी। दोनों ही प्रश्न एक से एक जटिल थे। लेकिन जुर्माने की अदायगी के प्रश्न को सुलझाने का वह पूर्णतया प्रयत्न करेगी।

सब बातों का सिंहावलोकन कर उसकी आँखों से आँसू नहीं गिरे—उनमें एक दृढ़ निश्चय का भाव प्रकट हो रहा था।

आज जब उसने अपना सन्दूक खोला, प्रमोद का एक पत्र, जिसे उन्होंने जब वह माँ के घर थी, भेजा था, हाथ आ गया। अनजाने ही वह उसे पढ़ गई। बार-बार पढ़ती और उसासों से कमरा भर देती।

चार महीने का वियोग था, किन्तु जिन हृदयों के प्रेम में

नीच स्वार्थ और तुच्छ वासना के कीटाणुओं का प्रवेश न हो उनमें वियोगावस्था प्राप्त होने पर प्रेम दृढ़ता ही पाता है।

× × ×

वह दिन भी आ पहुँचा जिस दिन प्रमोद के स्वच्छ वायु-पान का शुभमुहूर्त था और विनीता को···। अचानक प्रमोद को हुक्म मिला, वह छोड़ दिया गया। प्रथम उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। वह सोचने लगे, जुर्माने की अदायगी हुई ही नहीं फिर यह हुक्म कैसे! कुछ ही क्षणों पश्चात् वे सड़क पर चले जा रहे थे। उन्हें अपने कानों पर विश्वास करना ही पड़ा।

पन्द्रह दिन बीत चुके थे। ईश्वर का भेजा हुआ 'प्रसाद' इस पृथ्वी पर पहुँच चुका था—विनीता की गोद पुत्र-रत्न से भर गई थी।

× × ×

प्रमोद के बन्धन-मुक्त होने के दिन ही दिवाली थी। विनीता शृङ्गार किये हुए पति की आतुरता से प्रतीक्षा रही थी। ज्योंही वे घर पहुँचे, उसने पुत्र को उनके चरण स्पर्श कराये और स्वयं उसकी आँखों से आँसू छलक पड़े। ये आँसू दुःख के नहीं, हर्ष के थे।

प्रमोद ने विनीता को ऊपर से नीचे तक देखा। वह इन्द्र की परी-सी लग रही थी। लेकिन, कानों में ईयररिंग्स नहीं।

उन्होंने विस्मित हो पूछा—'क्यों, आज ईयर-रिंग्स नहीं पहिने?'

'नहीं।'

'क्यों?'

योंही।'

'भला तुम्हारा 'योंही' हुआ! तीज-त्योहार न पहिनोगी तो और कब?'—कहते हुए वे उसके शृङ्गारदान की कुञ्जी मेज पर से उठा, अल्मारी में रखे शृङ्गादान की ओर बढ़े। जैसे ही शृङ्गार-दान खोलने लगे, मानों उनसे कोई कह रहा हो—'ईयर-रिंग्स से जुर्माने की अदायगी हो चुकी।'

दूसरे ही क्षण शृङ्गारदान खुला। सब स्पष्ट हो गया। ईयर-रिंग्स की डिबिया रीती पड़ी थी। वे अवाक् रह गये और उन्होंने विनीता से पूछा—'कहाँ हैं?'

उसकी आँखें मानों कह रही थीं—एक मेरी गोद में और दूसरा मेरे समक्ष। प्रमोद ने उसे और ईश्वर के 'प्रसाद' को हृदय से लगा लिया। इसी समय चञ्चल न जाने कहाँ से दौड़ता हुआ आ पहुँचा तथा पूँछ हिला, कूँ-कूँ कर मानों मालकिन के मनोभावों का समर्थन करने लगा।

भग्न-हृदय

वह कालेज के द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी था। कद साधारण था। उम्र यही कोई अठारह-उन्नीस वर्ष की रही होगी। रङ्ग साँवला था और चेहरा भरा हुआ। यौवन के चिन्ह उस साम्य मूर्त्ति में विकसित हो चुके थे। वह इस बात को अच्छी तरह समझ चुका था कि अब उसका बचपन उससे रूठ चुका है। अवस्था के विकास के साथ ही साथ, स्वभाव भी बदलता जाता

है। बचपन में वह हँसमुख, ऊधमी और सबका दुलारा था; परंतु अब उसके स्वभाव में गम्भीरता आ गई थी। वह बहुत शांत रहता था। यह समझना भूल होगी कि वह अब हँसता-खेलता या दोस्तों से मिलता-जुलता न था; परन्तु अब उसकी वह हँसी क्षणिक होती। न उसमें पहले जैसी मादकता थी और न स्थायीपन।

घर से दूर विद्याध्ययन करने के लिए वह होस्टल में रहता था। कमरे में वह अकेला ही था—सब तरह से खुश, बन्धन-रहित। स्वच्छ हवा के प्रवेश के लिये कमरे में एक खिड़की थी। खिड़की के बाहर का दृश्य बड़ा ही हृदयग्राही था। यमुना की नील-वर्ण जल-तरङ्गों का कलरव कितना मनोहर था। कूल पर लगे हुए अनाज के पौधे यमुना रूपी सुन्दरी के गले में हार-जैसे शोभा-यमान होते। पानी में छोटी-छोटी मछलियाँ अठखेलियाँ करतीं। कहीं-कहीं मछुए अपनी डोर लिये हुए उन्हें काँटे में फँसा लेने की आशा से एकाग्र दीखते। इस समय यदि कोई नवयुवती इस दृश्य को देखती तो उसके मुँह से अचानक निकल पड़ता—'एक चीज की कमी है—प्रियतम का साथ।'

देवेन्द्र अपने कमरे की खिड़की पर बैठा, इस दृश्य को देख रहा था। सहसा उसकी दृष्टि पचास गज के अन्तर पर बने हुए एक बँगले पर पड़ी। वह चौंक पड़ा। हृदय की गति तेज हो गयी। उसने देखा, बँगले के बरामदे में एक युवती खड़ी है। शायद वह उसकी ही ओर देख रही थी। उन दोनों की आँखे चार हुईं; परन्तु देवेन्द्र की हिम्मत दूसरी बार नजर उठाने की न हुई। खोई हुई-सी दशा में वह पलँग पर पड़ रहा। युवती भी कुछ झेंप कर अपने घर के अन्दर चली गयी। यह उनका प्रथम साक्षात् था।

युवती के परिचय के सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित होगा कि वह एक ईसाई बालिका थी। उसे माता की तो कोई स्मृति ही न थी। हाँ, उसके पिता जब वह दस वर्ष की थी, उसे छोड़कर मर गये थे। घर में उसकी देख-रेख करने वाला कोई न था, इस कारण वह अपनी बहिन के यहाँ चली आयी थी। युवती का नाम था मिस रोज। जैसा नाम था, वैसी गुणशीला वह न थी। उसमें गुलाब जैसा गुलाबीपन न था, बल्कि गुलाबीपन का स्थान साँवले रंग ने ले लिया था। कोमलता स्त्री का एक विशेष गुण है और एक स्त्री होने के नाते उसमें भी कोमलता थी। उसका क़द औसत से अधिक लम्बा था।

युवती के बँगले के सामने एक छोटा-सा हरा-भरा बगीचा था और बगीचे से लगी हुई एक सड़क। कुछ दिनों से यह युवती बगीचे में, दिन भर में कई बार दिखलाई पड़ती। कभी-कभी तो यह भी आभास होता कि उसे घर में जैसे कुछ काम ही न हो। कभी वह पेड़ों में पानी देती, तो कभी एक पौधा खोद कर दूसरी जगह लगाती।

धीरे-धीरे ऐसा समय भी आया जब दिन में कई बार, देवेन्द्र और रोज़ की आँखे चार होती। नवयुवकों के लिये युवती में एक ऐसा अज्ञात आकर्षण होता है कि वह एक चकाचौंध से भर जाता है। उसी चकाचौंध में देवेन्द्र रोज़ की ओर आकर्षित हो गया। दिन-रात, खाते-पीते, उठते-बैठते उसे रोज की याद आती। जब उसे कालेज से फुरसत मिलती, तो वह बँगले के सामने की सड़क पर से निकल जाता अथवा कमरे के सामने खड़े होकर गाना गाया करता और उसी बीच कुछ इशारे

भी करता जाता। रोज़ भी इशारों का जवाब इशारों से ही देती। इस प्रकार मूक भाषा में उन दोनों के बीच बातें हो जाया करती। प्रेम का प्रारम्भ शायद मूक-भाषा में ही होता है; परन्तु प्रेम की भावना अधिक दिन तक छिपी नहीं रह सकती।

... .

सुबह का समय था। देवेन्द्र हाथ-मुँह धोकर अभी निवृत्त ही हुआ था। नौकर से नाश्ता लाने को कहा था। इतने मे अखबार वाला आ गया। देवेन्द्र ने उससे 'लीडर' खरीद लिया। पहले पृष्ठ पर सरसरी दृष्टि दौड़ा गया। दूसरा पृष्ठ पलटा। बड़े-बड़े अक्षरों में अंग्रेजी मे छपा था—'बन्धन।' पढ़ने से मालूम हुआ कि 'बन्धन नाम का चल-चित्र स्थानीय 'मोती महल' में आज से दिखलाया जायगा। यों तो वह सिनेमा देखने का बहुत शौकीन न था; पर जब जेब अधिक गर्म होती, तो वह अपनी इच्छा को दबा भी न पाता। आज ही उसे मनीआर्डर से पचास रुपये मिले थे। झट निश्चय कर लिया कि वह आज सिनेमा देखने जरूर जायगा।

शाम को पौने सात बजे, वह सिनेमा-हाउस जा पहुँचा। दस बजे सिनेमा समाप्त हुआ। चल-चित्र का कथानक तो उसे पसन्द आया ही, परन्तु उससे भी अधिक उसके गीत उसे प्रिय मालूम हुए।

'मुझे साजन का नाम सुना दे...।' यह गीत उसे इतना पसन्द आया कि वह उसका सर्वप्रिय गीत हो गया। इसके पहले वह अक्सर गाया करता था...'सपनों मे कोई आता है...।'

... ...

मिस रोज़ की एक-दो वर्ष की भाञ्जी थी। अन्ना नामक एक

दस वर्षीय लड़की उसकी देख-रेख के लिए नौकर थी। वह छोटी बच्ची को गाड़ी में बैठा कर देवेन्द्र के कमरे के पास से ही होकर, उसे घुमाने जाया करती थी। देवेन्द्र उससे कुछ बात करना चाहता था: पर मुँह न खुलता था। अन्त में वह निश्चय कर ही बैठा कि चाहे परिणाम कुछ भी हो, वह अन्ना से बात अवश्य करेगा। वह यही सोच रहा था कि इतने में गाड़ी की आवाज सुनाई दी। वह कुरसी से उठकर पुस्तक ले खिड़की पर बैठ गया। अन्ना गाड़ी लेकर आ पहुँची। देवेन्द्र ने मुँह धोने के बहाने थोड़ा सा पानी खिड़की से नीचे गिराया। पानी के कुछ छींटे अन्ना पर जा पड़े। उसने आँख उठा कर खिड़की की ओर देख, चुपचाप आँखे नीची कर ली। देवेन्द्र उससे कुछ कहने ही वाला था कि इतने में उसके चार-पाँच साथी आते हुए दीख पड़े। वह चुपचाप रह गया।

धीरे-धीरे शाम हो गयी। देवेन्द्र का हृदय अशान्त था। उसके दिल में छिपी प्रेम की भावना, वाणी का रूप लेकर बाहर निकल पड़ना चाहती थी। पास ही कलम रखी थी। उसने एक छोटा-सा कागज का टुकड़ा लिया और लिखने लगा...न जाने क्या लिख गया। यह पत्र उस युवती के नाम था। पत्र ले, वह बँगले के सामने सड़क पर जा पहुँचा। रोज़ बरामदे में अकेली ही कुछ काम कर रही थी। देवेन्द्र को दूर सड़क पर देख युवती के चेहरे पर एक भोली-सी मुस्कान दौड़ गयी। वह उठ कर उसे देखने लगी। देवेन्द्र ने पत्र दिखाते हुए, उसे बगीचे में फेंक दिया। ईश्वर जाने, उस पत्र का क्या हुआ?

देवेन्द्र लौट आया और बग़ैर खाना खाये ही सो गया। स्वप्न

में उसकी रोज से बातें हुईं। सुबह उठकर वह हाथ-मुँह धोकर कुरसी पर बैठ गया। सामने टेबिल रक्खी थी। वह आप ही आप कह रहा था—'रोज, तुम कितनी भोली हो! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मालूम नहीं, तुम भी मुझे चाहती हो या नहीं? बोलो, जवाब दो। क्या गूँगी हो गयी या न बोलने की कसम खाई है? क्या तुम एक प्रेमी को ठुकरा सकती हो? अच्छा तो यह होता कि हम दोनों अपना एक नया संसार बसाते। मेरी प्रेम की प्रतिमा .।' सहसा दरवाज़ा खुला, नवीन ने प्रवेश किया। देवेन्द्र चौंक पड़ा। देवेन्द्र के आखिरी शब्द—'मेरी प्रेम की प्रतिमा'—नवीन के कानों में पड़ गये थे। कमरे के अन्दर घुसते ही नवीन ने पूछा—'कहो मित्र किससे बातें कर रहे थे?'

'किसी से नहीं। यों ही प्रेमचन्द जी की किसी कहानी की एक पंक्ति याद आ गई थी।'

नवीन समझ तो गया कि देवेन्द्र बहाना बना रहा है; पर कुछ बोला नहीं। दोनों मित्र करीब आध घंटे तक इधर-उधर की गप्पे करते रहे। फिर नवीन उठकर चला गया।

इधर रोज का हाल भी अजीब था। वह भी प्रेम की पगली थी। वह घर के काम से फ़ुरसत पाने पर, बरामदे में खड़ी रहा करती। इधर देवेन्द्र भी अपने कमरे की खिड़की से सिर निकाल कर रोज़ की ओर देख, छिप जाता। उसका प्रत्येक दृष्टिपात रोज के हृदय पर तीक्ष्ण बाण का असर पैदा करता। जब रोज ने यह अच्छी तरह जान लिया कि देवेन्द्र उससे सचमुच प्रेम करता है, तो उसने भी एक पत्र लिखा। बगैर पता लिखे लिफाफे में बन्द कर, अन्ना को दे दिया। बँगले के बरामदे में खड़े हो, देवेन्द्र

को इशारा किया कि वह अन्ना के हाथ पत्र भेज रही है। देवेन्द्र झट नीचे उतर कमरे के बाहर घूमने लगा। अन्ना गाड़ी लेकर कमरे के पास आ पहुँची। उसने पत्र जमीन पर रख दिया और गाड़ी के साथ आगे बढ़ गई। देवेन्द्र ने उसे उठा लिया और छाती से लगाकर, चोर की नाई भागा। इस समय यदि वह अपनी छाती चीर, हृदय को पा सकता, तो वह पत्र को हृदय के बीचों-बीच छिपा लेता।

सीढ़ियों पर चढ़कर वह कमरे में पहुँचा। दरवाजा बन्द कर काँपते हुए हाथों से पत्र खोला। एक ही साँस में सारा पत्र पढ़ गया। दूसरी बार और तीसरी बार पढ़ा—उसके एक-एक शब्द में जादू था। प्रेम-संलाप के अतिरिक्त पत्र का अन्तिम वाक्य था—'उत्तर अन्ना के हाथ।' देवेन्द्र ने तुरन्त उत्तर लिख-कर रख लिया और अन्ना के लौटने की बाट देखने लगा। अन्ना लौटी। उसने खिड़की पर से पत्र नीचे गिरा दिया। अन्ना ने पत्र उठा लिया और ले जाकर रोज़ को दे दिया। रोज़ ने पत्र पढ़ा और उसे बहुत सँभाल कर रख छोड़ा।

... ...

देवेन्द्र का इम्तिहान करीब आ पहुँचा, इस कारण वह पढ़ने-लिखने की तरफ अधिक ध्यान देने लगा। रोज़ से उसका पत्र-व्यवहार जारी रहा। इम्तिहान समाप्त हो गया। आज देवेन्द्र घर जाने लगा। उसने रोज़ को आखिरी पत्र लिखा और उसी के साथ अपना एक फोटो रख अन्ना के हाथ भेज दिया और आप घर चला गया।

... ...

देवेन्द्र के पिता डाक्टर थे—सीधे-सादे—नई रोशनी के संसार से बहुत दूर। पहले वे कानपुर में थे, पर अब उनकी बदली इलाहाबाद को हो गयी थी। जाड़े का मौसम था। डाक्टर रामकुमार बैठे चाय पी रहे थे। पास ही उनकी स्त्री बैठी थी। वह बोल उठी—

'सुनते हो जी ?'

'क्या कहती हो ?'

'इतनी शादियाँ आती हैं—अब दिव्वन की शादी क्यों नहीं कर लेते। मैं भी बहू का मुँह देख लूँ। इस जिन्दगी का क्या ठिकाना। जिस दिन आँखें मिच गयीं, उसी दिन...।'

मै तो कई बार उससे कह चुका हूँ; परन्तु वह तो अभी शादी के लिये तैयार ही नही होता। न जाने कैसा लड़का है ! क्या जब बुड्ढा हो जायगा, तब शादी करेगा ।'

'उससे जरा समझाकर कहो।'

'अच्छा, आज मै उससे फिर कहूँगा ।'

घंटा-घर की घड़ी ने टन्-टन् कर आठ बजाया। देवेन्द्र घूम कर वापिस आ पहुँचा और अपने कमरे में बैठकर एक कहानी-संग्रह 'अन्तर्ज्वाला' पढ़ने लगा। रामकुमार अपने आफिस में बैठे थे। उन्होंने नौकर को पुकारा। आवाज आयी—'हाजिर हुआ सरकार।' कुछ ही क्षणों में बुद्धू आ पहुँचा।

'देखो बुद्धू, दिव्वन भैया आ गये हों तो कहना, बाबू जी बुला रहे हैं।।' बुद्धू चला गया।

देवेन्द्र के कमरे में पहुँचकर बुद्धू ने कहा—'भैया, बाबू जी बुला रहे हैं।'

'कहाँ हैं?'

'आफिस में बैठे हैं।'

'अच्छा, जाकर कह दो, अभी आ रहे हैं।'

बुद्धू चला गया। देवेन्द्र ने किताब अलग रख दी और पिताजी के कमरे में जा पहुँचा। रामकुमार ने उसे देखते ही कहा—'आ गये भैया! आओ बैठो।' देवेन्द्र कुरसी खींच कर बैठ गया।

'देवेन्द्र, अब तुम बड़े हुए। कुछ दुनियादारी सीखो। शादी करके घर-बार बसाओ। अभी कल ही स्नेहप्रभा के पिता से बात-चीत हुई थी। वे चाहते हैं, प्रभा की शादी तुम्हारे साथ हो जाय और मेरी भी यही इच्छा है। क्यों ठीक है न? प्रभा को तो तुमने देखा ही होगा। तुम्हारे ही कालेज में तो पढ़ती है। बोलो, तुम्हारी क्या राय है?'

देवेन्द्र इन सब बातों को सुनता रहा। पिता के प्रश्न का जवाब देने के लिये उसका मुँह न खुलता था। उसे ऐसा मालूम होता था, मानो उसकी वाक्शक्ति किसी ने छीन ली हो। कुछ सोच-समझ कर उसने दबे स्वर में कहा—'पिता जी, शादी तो अभी न करूँगा।'

रामकुमार ने क्रोधित स्वर में कहा—'अभी नहीं करोगे, तो कब? जब अवस्था ढल चुकेगी?'

'नहीं पिता जी; बी० ए० पास करने के पश्चात्।'

'नहीं, तुम्हें शादी इसी वर्ष करनी होगी।'

ये बातें हो ही रही थीं कि बाहर से मोटर की आवाज आई। किसी ने पुकारा 'डाक्टर साहब।' रामकुमार उठकर बाहर

चले गये। देवेन्द्र भी उन्हीं के पीछे दरवाजे तक गया। आगन्तुक ने डाक्टर साहब के हाथ में एक पत्र दे दिया। डाक्टर साहब पत्र पढ़ने लगे। देवेन्द्र भी पास ही खड़ा था। उसने भी पत्र के दो चार शब्द पढ़ लिये। डाक्टर साहब कमरे के अन्दर जा, पाँच मिनट में कपड़े पहिन कर आ गये। मोटर में बैठे। मोटर तेजी से बँगले की ओर रवाना हुई। बँगले पर पहुँच, मिस रोज़ की हालत देख उसे दवा देकर डाक्टर साहब वापिस आ गये। देवेन्द्र ने पत्र के दो-चार शब्द पढ़कर मालूम कर लिया था कि रोज़ की तबीयत खराब है।

पन्द्रह दिन बीत गये। रामकुमार ने शादी ठीक कर ली और आज से ठीक पन्द्रहवे दिन उसकी शादी स्नेहप्रभा से हो जायगी। दोनों ओर से शादी की खूब तैयारियाँ हुईं। देवेन्द्र की इच्छा न होते हुए भी; वह विवाह-बन्धन में बाँध दिया गया; परन्तु क्या एक स्वच्छन्द विचरनेवाली आत्मा इस बन्धन में रह सकती थी।

... ...

छः महीने बाद—

देवेन्द्र अभी भी कालेज के अहाते में बने हुए रोज़ के बँगले के सामने की सड़क पर निकलता; पर बङ्गले के बाहर न तो रोज़ ही दिखाई पड़ती और न अन्ना जिससे वह कुछ पूछ सकता।

एक दिन देवेन्द्र एक मैच देखने कालेज गया। सहसा उसकी मुलाकात अन्ना से हुई। उसे देखते ही वह रोने लगी।

देवेन्द्र ने घबड़ा कर पूछा—'क्यों री पगली! रोती क्यों है? तेरी मालकिन अच्छी हैं?'

अन्ना ने सिसकते हुए कहा—'वे तो चली ग...।'

'कहाँ चली गई ?'

'उन्हें प्रभु यीशु ने बुला लिया।'

देवेन्द्र यह सुनते ही अवाक् रह गया। उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल धार बह निकली। इसके बाद अन्ना दौड़ी हुई बँगले की ओर गई। देवेन्द्र वहीं खड़ा, अपने आँसुओं से भूमि को सींचता रहा। थोड़ी देर में वह लौट आई और एक लिफाफा लाकर देवेन्द्र के हाथ पर दिया। जेब से रूमाल निकाल कर आँसू पोंछते हुए उसने लिफाफा खोला। उसमें एक पत्र और एक तस्वीर निकली। देवेन्द्र पत्र पढ़ने लगा—

'प्रिय !...

अन्तिम विदा। मैंने प्रेम कर गलती की। न जाने ईश्वर ने नारी के हृदय में प्रेम नाम की वस्तु उत्पन्न ही क्यों की। हर रोज सैकड़ों अधखिली कलिकाओं का प्रेम की वेदी पर बलिदान हुआ करता है। पुरुष नेह लगाकर, उसे तोड़ना जानते हैं: पर स्त्री नहीं जानती। उसके हृदय में जो अंकुर जम जाता है, लाख कोशिश की जाय; पर उसे उखाड़कर नष्ट नहीं किया जा सकता। तुमने होस्टल से जाने के पश्चात् मेरी खबर तक न ली। ऐ निष्ठुर—निर्दयी; यह तुम्हारा फोटो जो तुमने मुझे प्रेम का उपहार कहकर दिया था, वापिस भेज रही हूँ।

आत्मबलिदान

यौवन के प्रभात में सौन्दर्य का बाजार किसी नवयुवक को काएक ही आकर्षित कर लेता है। वह जीवन में हर समय ।वीनता परिवर्तन और आजादी का इच्छुक हो जाता है। फिर ौवन जीवन की सुख-दुख-भरी परिस्थितियों से खेलता हुआ ारिष्कृत होने लगता है। परन्तु कभी कभी जवानी का उन्माद और उमंग की छोटी सी भूल मनुष्य को उस परिस्थिति में पहुँचा देती है कि जीवन की गुत्थियाँ सुलझने के वजाय उलझती ही जाती हैं।

उन दिनों बिपिन ने बी० ए० की परीक्षा दी थी। परीक्षा समाप्त हुए यद्यपि एक सप्ताह बीत चुका था परन्तु घर जाने का विचार उसके मन में शायद ही कभी उपस्थित हुआ हो। वास्तव में उसकी प्रकृति ही कुछ विचित्र-सी हो गई थी। ऐसा शायद ही कोई अवसर आता जब वह विचारों में लीन न मालूम पड़ता। उसके दोस्त उसे अक्सर 'फिलासफर' कहकर सम्बोधित किया करते थे। परन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि संसार की हर घटना के पीछे उसका कारण छिपा रहता है। बिपिन की प्रकृति दार्शनिकता के साँचे में जीवन की किस भूल के परिणामस्वरूप ढली! यह बतलाना कठिन है।

सहसा एक दिन उसकी माँ और भाई आ पहुँचे। माँ ने उससे कहा 'चलो, रज्जू आज त्रिवेणी स्नान कर आवे। छः सात वर्ष बाद आज कहीं प्रयागधाम के दर्शन हुए हैं।' उसने चुपके से

हाँ कर दिया—माँ के आग्रह के कारण। परन्तु किसी भूली हुई स्मृति ने उसके हृदय में अजीब बेचैनी उत्पन्न कर दी।

त्रिवेणी नहाकर सब लोग वापस लौटे। 'रज्जू चलने की सब तैयारी कर ले, शाम की गाड़ी से चलना होगा।' माँ ने स्निग्ध-भाव से कहा। परन्तु विपिन के हृदय को माँ के इस वाक्य ने एक तीव्र आघात पहुँचाया। लेकिन माँ से इन्कार किस भाँति करे। माता-पिता उसके लिए सदैव ही विशेष चिन्तित रहते थे। इस विशेष चिन्ता का कारण उसकी दिन-ब-दिन बदलती हुई प्रकृति थी। जब वह एफ० ए० में पढ़ता था तो एक बार वह उनकी आज्ञा के बगैर काश्मीर भाग गया था। ऐसी अवस्था में उसका पथ-प्रदर्शक विवेक नहीं बल्कि सूझ थी।

इधर चलने की तैयारी हो रही थी और उधर विपिन खड़ा दूसरे कमरे में सिसकियाँ भर रहा था। भोलीभाली माँ के मुँह से उसके व्याह की बात निकल चुकी थी। उसे सुन विपिन के दुख की मात्रा और भी बढ़ गई थी। दिन भर माँ और भाई ने उसे भाँति-भाँति से समझाया परन्तु वह किसी भी प्रकार घर चलने को तैयार न हुआ। फिर अब वह बच्चा न था कि मार-पीटकर काम लिया जाता। आखिर निराश होकर दोनों ही घर लौट आये।

ज्योंही घर में कदम रखा, पिता ने पूछा 'विपिन कहाँ?

'वह नहीं आया।'

'क्यों?'

'कह नहीं सकता। माँ और मैंने बहुत कहा सुना पर उसने एक न मानी।' इस समय रात को नौ बज चुका था। पिता का हृदय मसोस उठा। आखिर शादी पक्की हो जाने का वचन दे चुके थे।

यदि विपिन को ठीक समय पर उपस्थित न कर सके तो चार आदमियों के सामने कौन सा मुँह लेकर जायँगे। अस्तु, वे तुरन्त ही तैयारी कर प्रयाग के लिये रवाना हो गये। और दूसरे दिन दोपहर को जा पहुँचे। रास्ते में रायबरेली से अपने साले को भी साथ ले लिया था। दो वयोवृद्ध सम्बन्धियों के दबाव के बीच विपिन की जबान न खुली। परन्तु जी में एक कसक बनी ही रही। मनुष्य अपने मनोभावों के विश्लेषण के लिए एक समवयस्क साथी चाहता है। ऐसा सोच विपिन ने अपने किसी अन्तरंग मित्र को साथ ले लेना ठीक समझा और इसी उद्देश्य को ले वह प्रदीप के पास पहुँचा। प्रदीप साथ चलने से इन्कार न कर सका। 'भैय्या रज्जू कपड़े वगैरह तो ले ले। न मालूम कितने दिन रुकना पड़ जाय।' उसके पिता ने कहा।

उसने उत्तर दिया—'मुझे जरूरत नहीं है।' क्योंकि वह इसी वादे पर पिता के साथ चलने को सहमत हुआ था कि वे चार दिन पश्चात् उसे लौटने की अनुमति दे देंगे।

'अच्छा एक रेशमी कुर्ता तो रख ही ले।' पिता ने आग्रह किया लेकिन विपिन ने न सुना और सूट पहिन कर तैयार हो गया। सब लोग चल दिये।

× × ×

घर पहुँचने पर मालूम हुआ कि भावी ससुराल के लोग वहाँ पहले ही से उपस्थित हैं। विवाह के लिए जब विपिन ने आनाकानी की तो पिता लाला श्यामलाल ने यह कहकर अपने सिर से बला टाल दी कि उसे भड़कानेवाले महाशय प्रदीप ही हैं। प्रदीप के रोंगटे यह सुनते ही खड़े हो गये। वह सोचने

लगा—'दुनियाँ में भलाई के नाम पर बुराई ही हाथ लगती है। मुझे बिपिन विचार-विनिमय के उद्देश्य से लाया था परन्तु मेरी उपस्थिति ने यहाँ के लोगों में भ्रांति पैदा कर दी।'

लाला श्यामलाल नगर के रईसों में गिने जाते थे। उनकी शराफे की एक बड़ी दूकान थी और यथेष्ट जमींदारी भी। प्रदीप की ओर इशारा पाते ही वधू पक्षवालों का सारा ध्यान उसकी ओर खिंच गया और वे वास्तव में उसी को दोषी समझने लगे। परन्तु भ्रांति के इस सागर की किस लहर में सत्य छिपा था, इसकी वे कल्पना भी न कर सके।

प्रदीप के बार बार विश्वास दिलाने पर भी जब मामला तय होता नजर न आया और किसी क्षति की सम्भावना जान पड़ने लगी तो उसने वहाँ से चल देना ही उचित समझा। परन्तु यह भी उसके लिए सुलभ न हो सका। लाला श्यामलाल को वधूपक्ष-वालों ने सलाह दी कि प्रदीप को एक कमरे में बन्द कर दिया जाय। उन्होंने उचित अनुचित का विचार न किया और ऐसा करने के लिए अपनी सम्मति दे दी। कुछ ही क्षणों उपरान्त बिपिन का शुभचिन्तक एक कैदी तुल्य बन्द कर दिया गया। केवल इतना ही नहीं, बिपिन को यह भी धमकी दी जाने लगी कि विवाह अस्वीकार करने पर प्रदीप को जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। बिपिन और प्रदीप दोनों ही एक अजीब उलझन में पड़ गये। बिपिन के समक्ष एक ओर दोस्त की समस्या और दूसरी ओर अपने जीवन के सौदे का प्रश्न था।

इस समय लाला श्यामलाल गलत रास्ते का अनुसरण कर भटक गये थे। शादी में तीन हजार की थैली मिलने की आशा ने

विवाह की स्वीकृति के लिए उन्हें सहमत कर दिया था।

जब समस्या इतनी नाजुक हो गई तो विवश हो विपिन को विवाह स्वीकार करना पड़ा। प्रदीप बन्धन-मुक्त कर दिया गया। एक हफ्ते में ही शादी समाप्त हो गयी।

× × ×

विपिन के विद्याध्ययन के एकाकीपन के सरस दिन नीरस हो गये। उसके गले में गृहस्थजीवन की रस्सी का फन्दा पड़ चुका। यों तो पहले ही से वह सांसारिक बन्धनों से उखड़ा उखड़ा-सा रहता था पर साधना से शादी हो जाने पर उसने दिल में और भी उचाट का अनुभव किया। जब मनुष्य की आकांक्षाएँ मसोसी जा चुकती हैं तो उसके नित्यप्रति के कार्यों में बुद्धिहीन मनुष्य द्वारा किये गये कार्य के समान त्रुटियों की एक झलक मिलने लगती है और वहुधा इन त्रुटियों का आधिक्य हो जाने से उसका प्रत्येक कार्य गलत ही सिद्ध होता है। विपिन के जीवन में यही धारा प्रवाहित हो गई। उसके प्रत्येक कार्य में एक प्रकार की शिथिलता और क्रम की अनुपस्थिति का आभास मिलने लगा।

शादी हुए दो वर्ष व्यतीत हो चुके थे परन्तु ऐसा शायद ही कोई अवसर आया हो जब साधना ने अनुभव किया हो कि वह विवाहित है। इसका एकमात्र कारण यही था कि उसकी विवाह से पूर्व की कल्पना-प्रसूत आकांक्षाएँ जिनके पूर्ण होने की उसने वैवाहिक जीवन में आशा की थी अविकसित और अपूर्ण रह गईं।

अब विपिन के घूम फिरकर घर लौटने के समय में परिवर्तन हो चुका था। रात्रि के दो दो बजे तक उसका रास्ता देखना पड़ता। कभी-कभी सारी रात घर के बाहर ही व्यतीत कर सवेरे दर्शन

देता। घर पर किसी का भय रहा ही न था। करीब डेढ़ महीना हुआ विधाता ने पिता की शीतल छाया उस पर से उठा ली थी। केवल माँ ही घर पर शेष रह गई थी और माँ की ममता का पलड़ा इतना बोझिल होता है कि उसे अपनी सन्तान के प्रत्येक कार्य में शुद्धता ही की प्रतीति होती है। ऐसी अवस्था में माँ की ओर से वह निर्द्वन्द्व था। बड़े भाई बम्बई में नौकर थे। कभी दो-चार साल में छुट्टी मिल जाने पर घर आना हो सकता। शराफे की दूकान में ताला पड़ चुका था। बिपिन के ढङ्ग बिगड़ चुके थे। यार दोस्त भी आवारा ही मिल गये थे।

× × ×

रात्रि हो चुकी थी। बिपिन अपने दो साथियों के साथ लखनऊ के चौक में टहल रहा था। अब तो उसका कोठे पर जाना नित्यप्रति का काम हो गया था। तीनों आवारों की जेब में शराब की एक एक बोतल थी। बिपिन ने जीवन से पूछा—'तो आज किसके यहाँ जाओगे?'

'नसीरा के यहाँ?'

'और तुम?'

'सन्ध्या के अतिरिक्त और कहीं नहीं'—यह कहते हुए वह एक कोठे की सीढ़ियों पर धम धम कर चढ़ गया तथा एक सुसज्जित कमरे में जा पहुँचा। सामने बैठी हुई सुन्दरी ने कहा—'आज कई दिन बाद आये, बिपिन बाबू।' और कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा 'तशरीफ रखिए।' बिपिन ने जेब से शराब की बोतल निकालकर सामने टेबिल पर रखते हुए कहा–'हाँ जरा बाहर चला गया था।' फिर बोतल खुली और शराब के दौर चलने लगे × ×

× × × रात्रि को एक बज गया तब बिपिन को होश आया······'अब चलूँगा, सन्ध्या !' 'अच्छा !' वह लड़खड़ाते हुए उतर सड़क पर पहुँचा तथा गिरते पड़ते घर की ओर चल दिया।

साधना और उसकी सास बिपिन की इन हरकतों से परिचित हो चुकी थीं। परन्तु नारी में किसी कार्य के विरोध में सिर उठाने की क्षमता ही कितनी ! घर पर साधना उसे तोते की भाँति पढ़ाती परन्तु बिपिन पर इसका कोई असर न पड़ता। वह मानों उसकी सारी बातों को एक कान से सुनता और दूसरे कानों से निकाल देता। उसकी नित्यप्रति की उद्दण्डता ने उसका कलेजा पका दिया। वह जीवन से सब भाँति निराश हो चुकी। हताश हो जाने पर मनुष्य को किसी का भय नहीं रह जाता। अब वह मृत्यु का स्वागत प्रसन्नतापूर्वक करने को तैयार थी। हिन्दू-समाज में नारी के जीवन का सौदा केवल एक ही बार होता है। इस सौदे में भूल हो जाने के कारण साधना नारी-जीवन को सार्थक बनानेवाला पति-प्रेम पाने से वञ्चित थी। नित्यप्रति उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। पति को सुमार्ग पर लाने की चिंता में वह घुलने लगी।

× × ×

शाम को चार बज रहा था। संध्या अपने कोठे पर आराम कर रही थी। नीचे सड़क पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनायी दी। कुछ ही क्षणों में मीरासी एक सन्देशा लेकर आया 'एक देवी जी आपसे मिलने आई हैं।'

'अच्छा अन्दर बुला लाओ।'

साधना कमरे में आ पहुँची थी। संध्या ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा 'बैठिए, आपका परिचय ?'

'धीरज रखिए, अभी सब स्पष्ट हुआ जाता है। मेरा नाम साधना है और बिपिन बाबू जो आपके रोज़ के ग्राहक हैं, उन्हीं की मैं अभागिनी पत्नी……।' उसकी आँखें सजल हो गईं।

साधना के मुँह से यह सुनते ही संध्या के सुषुप्त नारीत्व ने एक करवट ली। फिर उसे ख्याल हुआ कि मैं वेश्या हूँ। मुझे किसी स्त्री के प्रति सहानुभूति से मतलब? ऐसे धर्म-संकट में एक साधना ही क्या, न जाने कितनी सुहागिन नारियों के जीवन झुलस रहे होंगे। उसने अपने को सम्हालते हुए कहा—'हाँ, बिपिन बाबू मेरे यहाँ आते जाते अवश्य हैं लेकिन आप मुझसे क्या कहना चाहती हैं?'

'आपसे कुछ सहायता की याचना करने आई हूँ।'

'भला सोचिए तो समाज को पद-दलित करनेवाली अधम नारी से आप किसी सहायता की आशा करती हैं, यह आपका भ्रम है। बहन, याद रखना मैं एक वेश्या हूँ। ओफ, माफ करना साधना, मैंने आपको 'बहन' के नाम से सम्बोधित कर गलती की। बहिन-से पवित्र शब्द को मैंने कलंकित कर दिया। एक वेश्या की बहिन होने से कहीं अच्छा है कि बहिन हो ही न।' कुछ मिनटों के लिए वह चुप रही और फिर बोल उठी—'आपने वेश्याओं की दगाबाजी के किस्से सुने ही होंगे। उनकी किसी बात का विश्वास ही क्या? चन्द पैसों के लिए जो अपनी इज्जत बेच दे उसका व्यक्तित्व ही कितना! शायद आप कहेंगी—'सौ सौ चूहे खाय के बिल्ली हज्ज को चली। परन्तु मुझे इस जीवन में ढकेलनेवाला एक लम्बा किस्सा है।'

'कौन सा किस्सा?'

'इसे पीछे बताऊँगी। पहले आप अपनी बात कहें।'

'क्या आप विपिन बाबू को सुधार का पथ बता सकती हैं ?'

'मुझसे यह आशा, साधना !'

'नहीं नहीं, निश्चय कर ले तो नारी क्या नहीं कर सकती !'

कुछ क्षणों के लिए साधना विचार-निमग्न हो गई। फिर मानो सोते से हड़बड़ाकर उठ बैठी··· 'लेकिन इस सुझाव का रास्ता भी आपको ही बताना होगा।'

'हाँ, इसके लिए मैं पूर्णतया तैयार हूँ।'

'किस तरह ?'

'आप उन्हें अपने यहाँ आने से मना कर दीजिए।'

'वे मेरी बात क्यों मानने लगे ?'

'संध्या दिन प्रति दिन की ठोकरें अन्धे को भी सचेत कर देती हैं फिर ये तो आँखोंवाले अन्धे हैं।'

'परन्तु साधना जिसके आँखें ही न हों उसे सुझाना सरल है लेकिन आँखोंवाले अन्धे को सुझाना कठिन है। खैर, देखा जायगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए कोशिश करूँगी।'

'धन्यवाद, अच्छा, अब चलूँगी, नमस्ते।' साधना उठकर चली गई।

संध्या उठकर पलँग पर पड़ रही। आज उसे मालूम हुआ कि वह जिस रास्ते पर जल्दी जल्दी पैर बढ़ा रही थी - वह ठीक रास्ते से बिल्कुल विपरीत निकला। विपिन के प्रति उसके स्नेह की कहानी नवीन न थी। यौवन की सीढ़ी पर पैर रखने के पूर्व ही से वह उसकी ओर झुक गयी थी लेकिन उसने एक बार फिर से निश्चय किया कि वह वचन-बद्ध हो चुकी है।

× × ×

रात्रि का अन्धकार बिपिन को संध्या के समीप खींच लाया। कमरे में पैर रखते ही उसने सन्ध्या के मन के भावों को भाँप लिया।

'आज कुछ चिन्तित-सी नजर आ रही हो संध्या?'

'हाँ, परन्तु मेरी चिन्ता के कारण तुम्हीं हो।'

'यह कैसे?'

'कुछ भी हो। परन्तु आपसे एक बात कहूँगी। वह यह कि आप अपने लिए कोई दूसरा दरवाजा तलाश लें।'

'क्या कह रही हो, तुम होश में हो?'

'पूर्ण रूप से। बस, अब आप यहाँ से सदा के लिए तशरीफ ले जायँ। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं कहना है।'

'तो क्या यह अन्तिम निश्चय है, संध्या? एक बार फिर से सोच लो। पीछे मुझे दोषी न ठहराना। भूल गईं वह दिन जब प्रयाग के उस कोलाहलमय संसार के बीच, तुमने अपना स्नेहांचल पसार मेरे जीवन का सम्पूर्ण आनन्द और उल्लास चुपके से न जाने कब चुरा लिया था। जब तुमने सारा संसार मेरे और अपने बीच ही सीमित कर लिया था।'

'यदि मेरा इतना ही ख्याल होता तो क्यों तुम वहाँ से चोर की भाँति भाग आते, मेरा संसार बिगड़ चुकने पर वर्षों पश्चात् मेरी ज्योति की सीमा के अन्दर अपने को लाते। अपनी उसी भूल का नतीजा आज भुगत रही हूँ।'

'तो अब मुझसे शादी कर लो।'

'अब अधिक समय बरबाद न करो।'

बिपिन ने मुँह मोड़ा। पीछे फिरकर भी न देखा। दो चार

गलियों की खाक छानता हुआ घर पहुँचा।

कभी-कभी मनुष्य के जीवन में छोटी-छोटी बातें भी महान् परिवर्तन कर देती हैं। विपिन और साधना के मध्य का सिमटा हुआ स्नेहांचल पुनः फैलने लगा और फैलता ही गया।

× × ×

दरवाजे की जंजीर किसी ने खटखटाई। दरवाजा खुला। सामने एक पत्र-वाहक खड़ा था। विपिन ने उसके हाथ से पत्र ले लिया। पढ़ते ही उसके माथे में बल पड़ गये। फिर उसे ले जाकर साधना के सामने फेंकते हुए उसने कहा–'संध्या सख्त बीमार है।'

'तो चलिए, जल्दी कीजिए।'

'मैं नहीं जाऊँगा।'

'नहीं, आपको चलना होगा।'

साधना का जी मृत्यु से पूर्व संध्या के दर्शन करने के लिए मचल उठा। उसके भीतर नारी का हृदय जो था। ताँगा बुलवाया गया। जाने की अनिच्छा होते हुए भी विपिन दरवाजे से ताँगे तक का रास्ता नाप उसमें जा बैठा। पीछे-पीछे साधना भी थी।

'ताँगेवाले, जरा जल्दी करो।' चन्द मिनटों में दोनों संध्या के यहाँ जा पहुँचे।

'जी, कहिए कैसी तबीयत है ?'

डॉक्टर परीक्षा कर रहे थे। संध्या ने हाथ का इशारा करते हुए कहा '… ठहरिए डॉक्टर साहब, मुझे नवागन्तुकों से दो बातें करनी हैं। ' साधना, इधर आइए।'

उसने पास ही पड़ी कुर्सी पर बैठते हुए पूछा 'कहिए, क्या कहना चाहती हैं।'

'साधना, क्षमा करना। मैंने तुम्हारे सुरभित चमन को उजाड़ दिया। अपने जीवन-पथ में जन्म भर के लिए काँटे बोये ही थे परन्तु साथ ही तुम्हें भी उस पर घसीट लिया। खैर, अभी भी देर नहीं हुई है। ईश्वर ने जल्दी ही टेर सुन ली। प्रभात का पथ-भूला शाम को घर आ पहुँचा।'

'बिपिन बाबू आप भी अपराधिनी को माफ...।' दूसरे ही क्षण वह अचेत हो गई।

साधना और बिपिन के सिवाय अन्य लोगों को संध्या के इन वाक्यों ने आश्चर्य में डाल दिया।

फिर न जाने कब मृत्यु हँसती हुई संध्या को स्पर्श करती चली गई। अभागा मानव-समाज भीगी आँखों से खड़ा देखता रह गया।

काली रेखाएँ

'शान्ती...शान्ती...' सहसा एक क्षीण स्वर कमरे में गूँज उठा। शान्ती नल के पास बैठी कपड़े धो रही थी। अपनी पुकार सुनते ही कपड़े धोना बन्द कर वह माँ के पास दौड़ गई।

उसकी माँ बहुत दिनों से बीमार थी। शान्ती को आज उसकी हालत अत्यन्त नाजुक दीख पड़ रही थी। माँ को देखते ही उसके दिल में यह शंका समा गई कि शायद अब माँ की आखिरी घड़ियाँ बहुत ही समीप हैं। उसने माँ को नेत्र भर देखा। सहसा उनसे अश्रुधारा निकल पड़ी और उसकी जबान से केवल एक शब्द 'माँ' निकल सका। माँ ने उसे अपने पास बैठा देखकर

स्नेह से भर अपना हाथ उस पर फेरते हुए कहा—'बेटी…अब… जा रही…हूँ। मेरे…पीछे…तुम्हारा क्या…होगा। मैं…अनुमान …नहीं…कर…सकती कि तुम्हें…तुम्हारी…विमाता…किस… प्रकार…रक्खे।' उसकी आँखों से बराबर अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। इसके अतिरिक्त वह अधिक कुछ न कह सकी और पिजड़े में बन्द पंछी जो अभी तक शायद अपने जाने का मार्ग खोज रहा था, उड गया। उसका प्राणहीन शरीर देख शान्ती चीख पड़ी। उसकी दशा विचित्र हो गई। घर में उसके अन्य सम्बन्धी थे पर शायद वह अपना किसी को न कह सकती थी।

× × ×

माॅ की मृत्यु को एक महीना बीत गया। अपनी लड़की की मृत्यु के अवसर पर शान्ती के नाना स्वयं आये और अपने दामाद राजन से शान्ती को कुछ दिनों के लिए मन-बहलाव के वास्ते ननिहाल भेज देने को कहा पर वे सहमत न हुए। उनके घर लौट जाने के पश्चात् भी कई पत्र आ चुके लेकिन राजन ने अपनी स्वीकृति न दी। इधर कुछ दिनों से अपने आमोद-प्रमोद में बाधा पड़ती देख उन्होंने शान्ती को भेज देने का निश्चय कर लिया।

शान्ती आज रात की गाड़ी से लखनऊ जा रही थी।…अकेली ही। राजन बाबू ने एक नौकर तक उसके साथ न भेजा। लेकिन रेल में तो मनुष्य विस्तृत दुनियाॅ के एक छोटे स्वरूप की झलक पा ही जाता है। यद्यपि वहाॅ अपने स्थायी सम्बन्धी न भी हों तो भी कम से कम कुछ समय के लिए सहानुभूति-प्रदर्शक तो मिल ही जाते हैं।

शान्ती ने जनाने डिब्बे में बैठना चाहा परन्तु उसमें तिल

रखने की भी जगह न थी। निदान विवश हो एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठ गई। गाड़ी दो चार स्टेशन पार कर चुकी थी। अभाग्यवश शान्ती के पैर में सन्दूक की ठोकर लग जाने से खून बहने लगा। सन्तोष उसी डिब्बे में बैठा बरेली जा रहा था। उसने शान्ती की उँगली से खून बहता देख तुरन्त ही अपना रूमाल निकाला और उसके मना करते करते भी खून पोंछने लगा। जब खून कुछ बन्द होता नजर आया तो उसने सन्दूक खोलकर चोट पर टिंचर लगा दिया। कुछ ही क्षणों पश्चात् शान्ती ने शान्ति अनुभव की और सन्तोष को धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् शेष यात्रा में दोनों में इधर-उधर की बातें होती रहीं। सवेरे चार बजे गाड़ी लखनऊ पहुँची। शान्ती उतर गई। दोनों एक दूसरे की नजरों में गड़ चुके थे लेकिन अभी तक वे छोटी दुनियाँ में ही तो मिले थे।

कुछ दिन शान्ती ने नाना और नानी के प्रेम में सुख का अनुभव किया। लेकिन एक दिन उसके पिता का पत्र आ पहुँचा। उन्होंने शान्ती को शीघ्र ही वापिस भेज देने को लिखा था।

शान्ती पिता के घर आ गई···लेकिन किसलिए? सुख के संसार में विचरने नहीं, बल्कि दुख का भार ढोने।

आकाश काले मेघों से आच्छादित था। पानी भी रिमझिम पड़ रहा था। सर्दी सिकोड़े डाल रही थी। संसार निद्रा देवी की गोद में आराम कर रहा था पर शान्ती को अभी तक घरेलू कामों से ही फुरसत न मिली थी। वह दिन भर काम करती परन्तु फिर भी सौतेली माँ और पिता की झिड़कियाँ सहनी ही पड़ती। अब वह संसार से पूर्णतया परिचित हो चुकी थी। संसार में परिवर्तन

अवश्य होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उसके समक्ष था। उसके पिता उसकी माता की उपस्थिति में, दूसरी शादी करने से पूर्व उससे अत्यधिक स्नेह करते थे, वह पहले का स्नेह अब उसके लिए स्वप्न-सदृश हो गया।

शान्ती के अंगों से यौवन की मादकता छलकी पड़ रही थी। राजन ने लोक-लाज निभाने के लिए उसकी शादी कर ही दी।

× × × ×

शादी के पश्चात् शान्ती श्वसुर-गृह आ पहुँची। आज सुहाग-रात थी। सन्तोष शयनकक्ष में बैठा हुआ तरह तरह की कल्पनाएँ कर रही थी। इतने में उसकी भाभी ने कमरे में प्रवेश किया— 'कहिए लालाजी किस इन्तजार में बैठे हैं।'

आप ही का तो इन्तजार था।' सन्तोष ने मुस्कराते हुए कहा।

'अजी मेरा इन्तजार क्यों होगा ? अब तो किसी और का…। अच्छा अभी थोड़ी देर और बैठो। इन्तजार में ही मजा आता है। क्यों लालाजी मैं ठीक कह रही हूँ न ?'

सन्तोष कुछ न बोला। भाभी चली गई। पन्द्रह मिनट पश्चात् पाँच-छः स्त्रियाँ हँसती-खिलखिताती मजाक करती नववधू को कमरे में कर गईं। शान्ती आकर पलँग के एक कोने पर बैठ गई। सन्तोष ने उसके कमल-मुख से घूँघट हटाया। वह आश्चर्य की दुनियाँ में पहुँच गया। यह तो शान्ती थी जिसे…। फिर दोनों ही अतीत का मान-चित्र देखने लगे। आज वे बड़ी दुनिया में मिले थे।

उस रात सन्तोष जब सोया तो पूर्णतया स्वस्थ था। लेकिन सवेरे उठते ही उसे कै दस्त शुरू हो गये। डाक्टर पर डाक्टर

बुलाये जाने लगे परन्तु उसकी हालत प्रति क्षण बिगड़ती ही जाती थी। अन्त में नौ बजते-बजते वह शान्ती को संसार में अकेला छोड़कर चल दिया। आह भाग्य! उसके केवल हाथ ही तो पीले हुए थे कि......। लोगों के दृष्टि-कोण में संसार में शान्ती-सी घोर पापात्मा शायद ढूँढ़ने से भी मिलनी कठिन थी। सभी ओर से उस पर बौछारें होने लगीं। अत्याचारों का एक पहाड़ उस पर अचानक फट पड़ा। कुछ समय तक तो वह सब कुछ सहती रही लेकिन दुखती हुई आँख में जब हवा के स्पर्श से भी पीड़ा होती है तो जी चाहता है वह सदा के लिए बन्द हो जाय।

× × ×

आज न जाने कितने महीने शान्ती ने अपनी जिन्दगी से तंग आकर कोठे पर बैठ बैठ कर काट दिये। अब वह 'शान्ती' नहीं 'नाज़ना' थी। कभी कभी वह सोचती क्या संसार की आँखों में एक भारतीय नारी का केवल इतना ही मूल्य है!

उस दिन एक बारात में वह प्रतापगढ़ आई थी लज्जा की देवी शान्ती बनकर नहीं बल्कि पापों की गठरी नाज़ना होकर। राजन भी पत्नीसहित वहाँ उपस्थित थे।

रात को नाच-गाना हो रहा था। नाज़ना गाना गा रही थी... प्रेम से नहीं, एक विवशता के कारण। इतने में एक स्त्री मजलिस को चीरती हुई आई और उसने नाज़ना को अपने करों में आबद्ध कर लिया। शायद सन्तानहीन हृदय द्वारा 'नाज़ना' हो जाने पर उसने 'शान्ती' का मूल्य आँक पाया था। लोग आश्चर्यान्वित हो इस मिलन के रहस्य को समझने का प्रयत्न कर रहे थे।

विद्रोही का प्रेम

ऊषा ने वसुन्धरा पर आगमन किया। उसका स्वागत घास के ऊपर पड़े हुए मोतियों ने पाँवड़े बिछाकर किया और प्रकाश ने उसे आगे हो भेंटा। वायु के झोकों ने उसका आँचल उतारा और फूलों ने अपनी सुगन्धि उसके ऊपर उँड़ेल दी। पक्षिकुल ने स्तुति-गान गाया। भगवान अंशुमाली उसका इतना आदर देख हँसे और चल दिये। ऊषा और प्रसन्न हुई और उसने अपने करों से प्राची के मुख पर रोली मल दी। सूर्यदेव ने ऊषा की ओर देखा तो वह गायब थी, *उनके मुख का प्रकाश पृथ्वी पर आ पड़ा।*

ठीक इसी समय महलों में प्रथम किरण के पदार्पण करते ही एक स्त्री ने आ द्वारपाल से कहा—'मैं सम्राट से मिलना चाहती हूँ।'

द्वारपाल—'इस समय तो बादशाह सलामत सोकर भी न उठे होंगे। आप उनसे मध्यान्ह के समय ही मिल सकेंगी।' स्त्री ने फिर कहा, 'द्वारपाल, देर करने से काम विगड़ जायगा, मैं जरा भी विलम्ब नहीं कर सकती। जल्दी करो और फौरन बादशाह को सूचना दो।'

द्वारपाल जाने को उद्यत हुआ और उसने पूछा—'आपका शुभ नाम?'

स्त्री ने उदास मुख से कहा, 'रोजेरी।'

द्वारपाल ने जाकर देखा तो लुई बिस्तरे पर बैठा, सर पर हाथ रखे कुछ सोच रहा था। द्वारपाल को आश्चर्य हुआ कि रोज तो सुबह से ही वह वेश्याओं से घिरा रहता था परन्तु आज वह

अकेला ही क्यों है ? उसने द्वार पर से ही कहा, 'जहाँपनाह रोजेरी नाम की एक स्त्री आपसे मिलना चाहती है।'

लुई ने जो सुना तो बोला, 'क्या कहा, रोजेरी, आने दो।' वह चाहता था कि रोजेरी को दुतकार दे क्योंकि वह एक अपराधी की स्त्री थी परन्तु इच्छा रहते हुए भी वह ऐसा न कर सका।

आज्ञा हुई और रोजेरी लुई के सामने लाई गई। दोनों की दृष्टि मिलते ही लुई ने राज्यश्री के घमंड में आ पूछा—'क्यों रोजेरी, आज तुम फिर आयीं! जल्दी बोलो कि तुम क्या चाहती हो ?'

रोजेरी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, 'ओफ राजन् इतना अभिमान कि आज मुझसे यह पूछ रहे हैं कि क्यों आयीं ? यह प्रश्न आपने उस दिन नही किया था जब मैं अपने पिता के साथ आया करती थी। क्या आप भूल गये मेरे उस पूज्य पिता को जिसे आपने अपने प्रेम की असफलता पर पदच्युत किया था और उसी आपके राज्य के प्रधान कोषाध्यक्ष ने अभी दस दिन बीते दरिद्रता और विपत्ति के क्रोध में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। खैर, इस समय मै एक साधारण स्त्री के रूप में आयी हूँ और यह जानना चाहती हूँ कि केर का क्या अपराध था जो उसे प्राणदण्ड दिया गया ?

लुई बोला, 'वह विद्रोही था।'

रोजेरी—'क्या एक अन्यायी राजा के विरुद्ध होना विद्रोह है ?'

लुई—'क्या तुम यह कहना चाहती हो कि मै अन्यायी हूँ ?'

रोजेरी ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया—'प्रजा को सतानेवाला यदि अन्यायी नही तो और क्या है ?'

लुई कुछ बोल न सका। उसका सारा घमंड चूर-चूर हो गया। एक स्त्री के मुख से ऐसी बातें सुन उसे दुख हुआ और ग्लानि भी। लेकिन फिर भी वह सँभलकर बोला, 'क्या तुम केर के प्राणों की भिक्षा माँगने आयी हो?'

रोजेरी—'कभी नहीं, राजन्! मैं केर के प्राणों की भिक्षा नहीं माँगने आई हूँ, वरन् मैं आपको यह बताने आई हूँ कि केर निर्दोष है और उससे मैं प्रेम करती हूँ। उसको फाँसी लगते ही मेरा जीवन क्या हो जायगा? ओह! इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, मेरा सर्वस्व लुट जायगा। राजन्! आपके तो हृदय ही नहीं है। आपको तो सदैव उसी वासनामय प्रेम का आभास मिला है। आप हमारे उस पवित्र प्रेम को क्या समझेंगे? मुझे खेद है कि मैं आपसे प्रेम न कर सकी। परन्तु प्रेम तो ऐसी चीज नहीं जो माँगने पर दी जा सके और दुख इस बात का है कि वह चाहते हुए भी नहीं दिया जा सकता। राजन्, आपका प्रेम तो वासनामय था।'

लुई अधिक न सुन सका। उसने नौकरों को आज्ञा दी कि रोजेरी को सामने से हटा दो और रोजेरी से तनकर बोला, 'चुप रहो, मेरे पास बेकार बातें सुनने का समय नहीं।'

अभी तक तो रोजेरी की मुद्रा गम्भीर थी और वह हृदय में रो रही थी तथा लुई के सम्मुख अपनी दुर्बलता छिपा रही थी। परन्तु ऐसी आज्ञा सुन उसका मुख विवर्ण हो उठा। चोट खाई हुई सिंहनी के समान वह तड़प उठी। जोर से चिल्लायी, 'राजन्, आपने मेरा अपमान किया है। इसका प्रतिकार आपको करना होगा। यदि मेरी विनती सुनने का आपको समय नहीं तो याद

रखिए कि आपको राज्य करने का भी समय न मिलेगा।' यह कह रोजेरी चल दी।

लुई ने सब सुना, एक अपराधी की भाँति और तबसे उसके हृदय में अशान्ति रहने लगी। उसके हृदय में हमेशा गूँजा करता और वह सुना करता निरन्तर उस भविष्यवाणी को, 'अब आपको राज्य करने का समय न मिलेगा।'

× × ×

केर को फाँसी हुई और उसी के साथ फ्रांस में क्रान्ति का आगमन हुआ। केर था मजदूर, मजदूरों का नेता। उबल पड़े मजदूर। क्रान्ति की उस भीषण ज्वाला से सम्पूर्ण फ्रांस आक्रान्त हो उठा। साम्राज्यशाही से पददलित फ्राँस-निवासियों ने अपने जीर्ण-शीर्ण पंजर और कंकाल क्रान्ति देवी की बलिवेदी पर उत्सर्ग कर दिये। आजादी का मूल्य चुकाने के लिये उनकी जोश-भरी वाणी अवनि से अम्बर तक गूँज उठी। सारा फ्रांस रक्त से प्लावित हो उठा।

उनकी अमर साधना सफलता का परिधान पहन प्रसन्नता से नृत्य कर उठी। एक दिन वह भी आया जब फ्रांस ने देखा लुई को जेल में, हथकड़ियों के आभूषणों में।

फाँसी-गृह खूब सजा हुआ था। लुई को फाँसी दी जानेवाली थी। सारा हाल दर्शकों से भरा हुआ था। वह मंच के ऊपर लाया गया। सहस्रों सैनिकों और दर्शकों की आँखें उस पर पड़ीं। उसका तमतमाता हुआ मुख देख लोगों के हृदय में मोहजनित करुणा का आविर्भाव हुआ। सहस्रों मनुष्य उसे देख रहे थे परन्तु वह कुछ और ही देख रहा था। उसके सम्मुख तो बस

थे उसके जीवन के चित्र। वे चित्र उसके नेत्रों के सम्मुख सिनेमा के चित्र-पट की भाँति शीघ्रता से एक के पश्चात् दूसरे तीसरे चौथे लगातार भागे जा रहे थे। इस समय लुई सर्वाधिक अनुभव कर रहा था रोज़ेरी और केर के उस पवित्र प्रेम को। वह सोचता अच्छा होता यदि मैं भी केर के समान विद्रोही होता। मैंने इस सुख और ऐश्वर्य को अपनाया ही क्यों? यही तो रोजेरी के प्रेम में बाधक बना। क्या ही अच्छा होता यदि मैं भी केर की भाँति मजदूरों की पंक्ति में होता और जो कुछ उपार्जन करता उसी से अपना पेट पालता। उस समय रोजेरी तो पास होती।

यही सोचते सोचते उसे सुख की एक अनुभूति हुई। उसने अपनी आँखें मूँद लीं—आनन्द का अनुभव करने के लिये और क्षणभर के लिये उसके कुटिल मुख पर नाच उठी मुसकान की एक सरल रेखा। ओह! यही था उसके जीवन का केवल एक सुखद और शान्तिमय क्षण, परन्तु कितना अमूल्य। उसका मूल्य था एक जीवन।

इसी समय घंटी बजी। उसकी विचार-शृंखला टूटी और उसे होश आया कि वह फाँसी के तख्ते पर है। उसने अपनी आँखें दर्शकों की ओर फेरीं। उसे मालूम पड़ा जैसे रोजेरी ही सामने खड़ी हो। वह उसे पुकारना चाहता था कि इतने में फिर दूसरी घंटी बजी। आह! फाँसी का फन्दा गिरा और लुई उसी में झूल गया।

कटु अनुभव

क्या कहूँ उस कम्बख्त बीनू को जो वह पूछ ही बैठा—'कहिए हजरत, आज इतने दिनों बाद यहाँ कैसे भूल पड़े ?' मुझे क्रोध तो बहुत आया लेकिन कुछ सोच-समझकर ग़म खा गया। खा तो गया पर पेट फिर भी न भरा। चूहे कूदते ही रहे।

'अरे यार तुम्हें दुनियाँ में हरा ही हरा सूझता है। यहाँ तो छठी का दूध याद आ रहा है।'

'आखिर हुआ क्या ? परेशानी किस बात की है ?'

'परेशानी ! एक परेशानी हो तो गिनाई जाये। यहाँ तो बेशुमार परेशानियाँ हैं।'

'अरे भाई, क्या बात हुई ? क्या श्रीमतीजी ने आते-ही-आते तुम्हें आटे-दाल का भाव मालूम करा दिया ?'

'अजी मियाँ, इस चक्कर में पड़ने पर जब ऐसी बातें करोगे तो मैं भी देखूँगा।'

'आखिर आप इतना चिढ़ क्यों गये ? अवश्य श्रीमतीजी से कुछ चकचक हुई मालूम देती है।'

'अजी अब उनसे क्या चकचक हो सकती है। उनकी माँग तो मैंने पूरी कर दी।'

'क्या माँग थी ?'

'एक मोटर चाहती थी सो मैंने खरीद दिया है।'

'मोटर ! इस महँगी के जमाने में तुम्हारे पास इतने रुपये कहाँ से आये ?'

'अजी अब रुपयों के दादा परदादा का हाल न पूछो। मुझे तो सस्ती ही मिल गई। भला हो इस जमाने का कि पेट्रोल मिलता ही नहीं अन्यथा न जाने कितने के चक्कर में पड़ गया होता। मुझे सन्तोष इस बात का है कि अपने पास एक मोटर है भले ही उसमें इञ्जन की जगह घोड़ेराम जुतते हैं।'

'अच्छा, तो अब मैं समझा; तुमने बीसवी शताब्दी की न्यू कट मोटर खरीदी है।'

'जी हाँ।'

'अच्छा यह बताओ क्या समझते हो कि केवल इतने से ही तुम्हारी श्रीमतीजी की माँगों का दिवाला निकल गया?'

'और नही तो क्या? अजी जनाब ईंट से ईंट बज गई।'

'जी हाँ, उस समय तो पागल हो रहे थे कि शादी करूँगा तो बी० ए० पास लड़की से ही। अगर मान गये होते तो आज गले में यह कौर न अटका होता। लेकिन अब क्या हो सकता है। अभी तो श्रीमतीजी तुमसे नाकों चने चबवायेंगी। जानते नहीं हो श्रीमतीजी बीसवीं सदी की नायाब ईजाद हैं। ईश्वर भला करे। अब तो जो कौर अटका है उसे ले दे कर निगलना ही है। अच्छा जाने भी दो इन बातों को। अपनी मोटर में एक दिन सैर तो कराओगे?'

'न बाबा, कान पकड़ता हूँ। यह अपने वश का रोग नहीं।'

'क्यों, क्या श्रीमतीजी को मोटर का पूर्ण लाइसेन्स सौंप दिया है?'

'और नही तो क्या? बगैर इसके जान ही छूटती न दिखलाई पड़ती थी।'

'तुम्हें भी कभी उसमें बैठने का मौका मिला ?'

'केवल एक बार। वह भी जब श्रीमतीजी ने चलना मंजूर न किया।'

'खैर, मैं स्वयं ही तुम्हारी श्रीमतीजी के पास एक आवेदन-पत्र लेकर पहुँचूँगा। शायद स्वीकार हो जाय।'

'अच्छी बात है। अब चलूँगा। नौ बज गया है। नहीं तो रात भर बाहर ही चक्कर काटना पड़ेगा।'

× × ×

जैसे ही दरवाजा खुला और अन्दर दाखिल हुआ कि लाल-पीली श्रीमतीजी की बौछारों का शिकार बनना पड़ा—'इतनी देर बाद घर लौटने का समय हुआ ?' मेरे लिए इस समय चुप मारने के अतिरिक्त कोई चारा न था।

दूसरे दिन सचमुच ही बीनू आवेदन-पत्र लेकर दाखिल हुआ। मैंने सोचा शायद घेलुए में मैं भी आ जाऊं। हुआ भी ऐसा ही। शाम को पाँच बजे चलने का तय रहा।

दिन के दो बजे से ही श्रीमतीजी ने तैयारी शुरू कर दी। लेकिन पॉच कभी का बज चुका और फिर भी रेडी न हो सकी। बीनू और मै बैठक में बैठे इन्तजार कर रहे थे। ड्राइवर मोटर के समीप पैंतड़े बदल रहा था। अधिक नही तो कम से कम एक दर्जन बार श्रीमतीजी ने ड्रेस तब्दील की। एक ड्रेस पहिन शीशे के सामने खड़ी होती, मानों उसे रिझा रही हों। हर पहलू से कपड़ों का इम्तहान लेती और तत्पश्चात् नाक-भौं सिकोड़ कर अच्छा खासा डबल अण्डा टिका कर उसे फेल कर देतीं। इस

प्रकार उन्होंने बारह साड़ियों को फेल कर दिया तब कहीं तेरहवी साड़ी पर हाथ लगाया।

बीनू ने मुझसे अन्दर जाकर देखने को कहा। जब मैंने ड्रेसिंग रूम के पर्दे को हटाकर झाँका तो वे घूम-घूमकर एक आसमानी रङ्ग की साड़ी का इम्तहान ले रही थी। मुझे देखते ही बोलीं, 'क्या देर हो गई ? क्या बताऊँ, ये साड़ियाँ सूट ही नही करती। अजीब मुसीबत है।'

मैंने इस समय हाँ में हाँ मिलाना ही ठीक समझा और कहा, 'अच्छी तो मालूम हो रही हो। शाम का समय और आसमानी रङ्ग!'

श्रीमतीजी ने शीशे में देखते हुए कहा—'कुछ जँचती नही।'

'वाह, इन्द्र की परी से कम नही मालूम पड़ रही हो।'

इस पर वे जरा मुस्करा दीं। मैंने अपने को धन्य माना। उन्होने केवल इतना ही कहा, 'चलो हटो भी।' लेकिन ईश्वर को बार-बार धन्यवाद कि उन्होने मेरी बात टाली नही। वही साड़ी पहने बाहर चल दी।

हम तीनों के तीनों न्यू फैशन मोटर में बैठ गये। कुछ दूरी तय कर मोटर एकाएक रुक गई। मेरे होश उड़ गये, आखिर हुआ क्या ? देखा तो सामने कंकड़ों से भरी हुई एक गाड़ी खड़ी थी। ड्राइवर ने लाख हार्न बजाया पर उस कम्बख्त गाड़ीवान के कान मे जूँ तक न रेंगी। उल्टे हमी लोगों के कान बजने लगे। ड्राइवर ने उतरकर देखा तो गाड़ीवान गायब था। भैंसे गाड़ी लिए बीच सड़क में खडे जुगाली कर रहे थे। उन्होंने हार्न अवश्य सुना और सिर हिलाकर मानों कहने लगे, 'अपने राम जौ भर भी न हटेंगे,

तुम्हारी मोटर जा सके तो चली जाय, अन्यथा हमारी तरह ठहर कर थोड़ी देर जुगाली कर ले।'

मेरा जी चाहता था कि गाड़ीवान को ढूँढ़कर खूब मरम्मत करूँ। लेकिन यह सोचकर चुप रह गया कि जब फूल-सी हल्की अपनी श्रीमतीजी को ही वश में न कर सका तो उस फौलादी गाड़ीवान से आँखें तरेरना मानों आकाश के तारे तोड़ना है।

जब कोई वश न चला तो ड्राइवर ने गाड़ी के किनारे से मोटर आगे निकालना चाहा। सड़क सकरी थी। गड्ढे अधिक थे। दूसरे ही क्षण एक झटका जो लगा तो अपने राम बौखला गये। फूल की तरह उचककर श्रीमतीजी की गोद में जा धमके। उनका पारा चढ़ गया और उन्होंने झट मुझे दोनों हाथों से पकड़ मेरी जगह पर धर पटका। बीनू साथ में था इस कारण मैं कुछ न बोला।

× × ×

चार पाँच दिन पश्चात् मुझे यह खब्त सवार हुआ कि इस न्यू कट मोटर को खुद ही चलाना क्यों न सीखा जाय। इससे मुझे दोहरा फायदा नजर आया। ड्राइवर को अलग करने से रुपये की बचत होगी और सफर में केवल दो प्राणी—मैं और श्रीमतीजी—रहेंगे तो सफर का आनन्द चौगुना हो जायगा।

खैर, यही तय कर एक दिन श्रीमतीजी की आज्ञा से ड्राइवर को साथ ले मै मोटर चलाना सीखने निकल गया। कान-पूँछ झाड़ सारा ध्यान मैंने अपना नया सबक सीखने में लगा दिया। लेकिन इस सबक को जितना सहल मै समझ बैठा था उतना सहल निकला नहीं। बात कुछ यह नहीं थी कि मैं गोबरगणेश या घोंघा बसन्त हूँ। यह इससे साफ जाहिर हो सकता है कि

जब तक मैं पढ़ता रहा दर्जे में छठे से सातवें नम्बर कभी नहीं आया यद्यपि दर्जे में सिर्फ छः ही लड़के थे।

बहुत कोशिश की लेकिन सफलता न मिली। ज्योंही मैं रास अपने हाथ में लेता मोटर की स्पीड जीरो इंच प्रति मिनट हो जाती। न मालूम मोटर का इंजिन जिनका नाम घोड़ेराम जी था कुछ हाथ पहचानते थे कि जब मैं चलाने लगता तो टस से मस न होते। जब ड्राइवर हाथ लगाता तो भीगी बिल्ली की नाईं चल निकलते और ऐसा सरपट दौडते मानों शादी करने जा रहे हों।

हम लोग करीव ढाई मील निकल गये। इंजिन अली कुछ ऐसे विगडे दिल निकले कि यहाँ से न एक कदम आगे और न एक कदम पीछे चलना मंजूर किया। ड्राइवर से भी रूठ गये। तब तो मैं बड़े चक्कर में पड़ा। निदान यही तय हुआ कि अब हमी दोनों को ड्यूटी बजानी पड़ेगी। पहले ड्राइवर साहब ही जुट पड़े। मैंने कुछ ध्यान न दिया और मोटर को पीछे से ठेलने लगा। आधे से कुछ अधिक रास्ता तय कर चुकने पर ड्राइवर साहब ने हाथ-पॉव ढीले कर दिये। तब अपने राम की पारी आई। मैंने बहुत हीला हवाला किया पर कम्बख्त ड्राइवर ने एक न मानी और मुझे मोटर में जोत ही दिया। हरामी लड़कों ने मेरे पीछे लग शोर मचाना शुरू कर दिया। शोर गुल सुनकर बहुत सी नाजनियाँ झरोखों से झाँक उठीं। मैं पसीने पसीने हो रहा था। रास्ते भर यही मनाता रहा कि कहीं श्रीमतीजी सामने न पड़ जायँ। लेकिन ईश्वर भी मुझसे रूठ चुका था। जैसे ही बँगले के फाटक से घुसा तो देखा श्रीमतीजी बगीचे में चहल-कदमी कर रही है। मुझे गुस्सा खूब आया लेकिन उतारता किस

पर ? मुझे इस हालत में देखते ही श्रीमतीजी कुछ मुस्कराई लेकिन पूछा कुछ नहीं।

दूसरे दिन ऐसी कोई घटना नही हुई और धीरे-धीरे मुझे मोटर चलाना आ गया। ड्राइवर की कन्नी काट दी गई।

× × ×

आज श्रीमतीजी ने घूमने का आग्रह किया। मै अपनी कमजोरी को अच्छी तरह जानता था। मुझे कितना ही चलाना क्यों न आ गया था परन्तु फिर भी भीड़ में जी काँपता था। इसी कारण मैने कहा, 'उँह कहाँ चलोगी।' इतना सुनते ही वे तिलमिला उठी और बोली, 'यदि न चलेगे तो मै रूठ जाऊँगी।'

मैने कांपते हुए स्वर से जवाब दिया, 'नही बाबा, ऐसा मत करना।' मै उनके इस अस्त्र से उतना ही डरता था जितना कि आप रात को खटमल से डरते हैं। फिर वैसे भी मै उनका बहुत दबाव मानता हूँ और मानना भी चाहिए क्योंकि वे मुझसे ऊँचाई में ठीक छः इंच अधिक हैं। निदान चलना ही पड़ा।

मोटर में सफर करते हुए हमलोग चौराहे पर आ पहुँचे। क्या कहूँ सरकार की हिमाकत को कि उसने चौराहे पर शाम-सुबह एक सिपाही तैनात कर दिया है। जैसे ही मेरी मोटर चौराहे पर पहुँची कि उधर से एक साइकिलवाला आ निकला और मेरे ब्रेक लगाते ही लगाते घोड़ेराम उससे भिड़ गये तथा इस तेजी से धावा किया कि बेचारे को जान बचाना मुश्किल हो गया। खुद तो गिरे ही और साथ ही मोटर को भी ले उल्टे। खुदा का शुक्र कि मेरी श्रीमतीजी साफ बच गई और मुझपर जो बीती उसे कहने में जरा हिचकता हूँ।

जैसे ही हाथ-पैर झाड़कर तैयार हुआ कि सिपाही ने इण्टरव्यू के लिए बुलाया और हुलिया दर्ज की। गुस्सा मुझे इस पर लग रहा था कि आखिर उसने श्रीमतीजी को क्या समझा कि उनसे कुछ भी न कहा और मेरा ही चालान कर बैठा। शायद मुझे कोचवान समझा हो। उस दिन से मैंने कभी मोटर चलाने का नाम न लिया और ड्राइवर का आवेदन-पत्र श्रीमतीजी से सिफारिश कर तुरन्त मजूर करा दिया।

× × ×

उस दिन वीनू फिर आ पहुँचा। मै अपनी किताबों का बिसातखाना जमीन पर फैलाये बैठा था। मुझे इस अवस्था मे देख बोल उठा, 'अरे भाई अभी भी तुम्हारे कमरे की यह हालत रहती है। पहले तो जब मै इस सम्बन्ध में तुमसे कहा करता था तो कहते थे, 'आने दो श्रीमतीजी को सब ठीक हो जायगा। अकेले कहाँ तक क्या करूँ।'

मैंने कुछ झुँझलाकर उत्तर दिया, 'क्यों जले पर नमक छिड़कते हो?'

'आखिर कहा था न कि अधिक पढ़ी-लिखी लड़की से शादी करने की क्या जरूरत? उस समय मान गये होते तो आज अच्छे दिन होते न। तब तो कहानियाँ और निबन्ध लिखने का चस्का लगा था और अक्सर कहा करते थे 'I want an educated life-partner' शायद इसी आशा मे थे कि श्रीमतीजी आकर तुम्हारे यहाँ क्लर्की करेंगी। अब मै सोचता हूँ कि श्रीमतीजी तो क्या तुम्हारी क्लर्की करती हैं बल्कि तुम्ही उनकी दर्जनों साड़ियाँ तहा कर रखते होगे।'

'अरे भाई शादी से पूर्व जब श्रीमतीजी को देखने गया था तो हँसिये-सी सीधी और भोली दिखी थीं।'

'खैर तुम्हारे घर का हाल तुम जानो या खुदा जानें, मुझसे क्या मतलब ?'

भ्रम

कई दिनों से सुधाकर कुछ चिन्तित और दुखी जान पड़ता था। उसके देखते ही देखते राजदाँ और प्रकाश का सम्बन्ध घनिष्टता में परिवर्तित हो चुका था। राजदाँ सुधाकर की अनुपस्थिति में प्रकाश से कभी नहीं मिलती। परन्तु जब कभी दोनों मिलते तो बातचीत में इस प्रकार तल्लीन हो जाते कि सुधाकर का उनके मध्य से दबे पाँव उठ आना उन्हें मालूम न हो पाता। सुधाकर ने निश्चय कर लिया था कि वह अपने मन की बात किसी भाँति उन्हें ज्ञात न होने देगा। उसका हृदय कचोट रहा था शायद इस कारण कि उसी ने तो अपने मित्र प्रकाश का परिचय राज़दाँ से कराया था।

उस दिन तीनों बाजार जा निकले। सुधाकर और राज़दाँ कपड़े की एक दूकान में जा बैठे और कपड़े देखने लगे, और प्रकाश पानवाले की दूकान से पान खरीदने लगा। राजदाँ को एक शर्बती रङ्ग की साड़ी पसन्द आई। उसने सुधाकर की ओर सम्मतिसूचक दृष्टि से देखा, पर उसका मन तो नीले रंग की साड़ी पर लट्टू हो गया था जिसे पहिन राज़दाँ की सुन्दरता फूट पड़ती।

उसने धीरे से राज़दाँ से कहा, 'हाँ साड़ी का रंग तो अच्छा है

पर नीली साड़ी को पहिनने से नीलाकाश का चन्द्रमा भी तुमसे लजा जायगा।' राजदाँ मुस्करा दी। इतने में प्रकाश भी पान लेकर आ पहुँचा। राजदाँ के हाथ मे उस नीली साड़ी को देखकर उसने कहा—'यह भी कोई पसन्द है। इससे तो पासवाली शर्बती साड़ी अच्छी मालूम देती है।' राजदाँ ने सकुचाये नेत्रो से सुधाकर की ओर देखा और फिर दूकानदार से शर्बती साड़ी लपेटने को कहा।

सुधाकर को राजदाँ की उपेक्षा बुरी लगी, पर उसने कहा कुछ नहीं। हृदय की वेदना हृदय में ही रखकर मुखाकृति से भी कोई भाव व्यक्त न होने दिया। तीनों बाते करते हुए चल दिये।

सुधाकर का मन आज किसी कार्य में न लगा। वह अत्यन्त व्याकुल-सा प्रतीत हो रहा था। हृदय की वेदना की स्पष्ट छाप अब उसके मुख पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। भजुआ ने भोजन के लिए अनुरोध किया पर उसने कह दिया—'तबीयत ठीक नही।'

भजुआ ने अपने मालिक को कभी ऐसी स्थिति में न देखा था। अतः वह सहम गया पर कुछ पूछने का साहस न कर सका।

सोचते सोचते रुदित शिशु के समान सुधाकर थक गया और निद्रा देवी ने उसे कुछ समय के लिए अपने अक में भर लिया। पता नही कब तक वह सोता रहा। जब उठा तो टेलीफ़ोन की घंटी वज रही थी।

'कौन ?' उसने उत्सुकता से पूछा।

'मैं, राजदाँ।'

सुधाकर ने अनुमान किया, निश्चय ही राजदाँ अपने व्यवहार के लिए लज्जित है और क्षमा-याचना करेगी। शायद और भी

कुछ कहे। एक क्षण में ही उसका सब दुःख, क्षोभ और ग्लानि विलीन हो गई तथा उसने कहा, 'हाँ, बोलो।'

'आज सिनेमा देखने चलना है। प्रकाश बाबू ने मुझसे टेलीफोन पर कहा है। पाँच बजे आ जाना। चाय भी यहीं पिएँगे। प्रकाश बाबू भी आ जावेंगे। तीनों साथ चलेंगे।'

'अच्छा।'

सुधाकर की प्रतीक्षा में राज़दाँ बेचैन हो गई। छः बज चुका था। वह रह रह कर बाहर जाती और आशा-भरे नेत्रों से उसकी राह देखती। दूर मोड़ पर अपनी कोठी की ओर आते हुए व्यक्ति को वह सुधाकर ही समझती, पर हर बार उसे निराश ही होना पड़ता। अन्त में अकुलाई हुई वह ड्राइंग रूम में एक सोफे पर बैठ गई। सुधाकर के बिना उसे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। वह उसे केवल चाहती ही नहीं थी, हृदय से प्यार भी करती थी। अपने हृदय-मंदिर में देवता का स्थान उसने सुधाकर को ही दिया था। अपने को वह उसे सौंप चुकी थी। प्रकाश का सम्मान और आदर वह अवश्य करती थी पर शायद इसीलिए कि वह सुधाकर का परम मित्र था। राज़दाँ जानती थी कि उसका प्रकाश से बोलना खलेगा नहीं। प्रकाश सुधाकर का विश्वसनीय मित्र था। सन्देह का कोई स्थान हो सकता है यह उसने कभी विचारा ही न था। सुधाकर की वेदना का उसने कभी अनुभव ही न किया था।

इसी समय प्रकाश ने मोटर का हार्न दिया। राज़दाँ बेसुध-सी पड़ी रही; गई नहीं।

प्रकाश ड्राइंग-रूम में चला आया और राज़दाँ को देख अचम्भे

में पड़ गया। राज़दाँ भी और दिनों की भाँति हँसी नहीं, केवल बोली, 'आपके दोस्त अभी तक नही आए।'

विरहिणी की व्यथा जानने में प्रकाश को देर न लगी। उसने कहा—'तो फिर आज सिनेमा नहीं जाएँगे?'

'क्यों?'

'सुधाकर जो नहीं हैं। चलो उन्हीं के घर चलें।' राज़दाँ कुछ लजाकर बोली, 'चलती हूँ।' दोनों मोटर की ओर चले। वे बैठ ही रहे थे कि पीछे की मोड़ से सुधाकर उधर आया। उन दोनों की दृष्टि सामने थी। इस कारण वे उसे न देख सके। उन्होंने गाड़ी स्टार्ट की। सुधाकर ने उन्हें जाते देखा और एक ठंढी सास ली। आज उसने राज़दाँ से न मिलने का निश्चय कर लिया था। इसीसे वह घूमने के बहाने अजायबघर की तरफ चला था पर किसी भी प्रकार वह अपने को न रोक सका और इधर आ ही निकला। राज़दाँ का आकर्षण उसे खींच लाया। उसने मन में सोचा, यदि राज़दाँ मुझे भूल गई है तो क्यों अब व्यर्थ प्रयास करूँ। प्रकाश और वह यदि आपस में सुखी हैं तो मुझे भी न चाहिए कि मैं उनकी राह का काँटा बनूँ। वह इस बात से परिचित था कि इसके लिए उसे अपने सर्वस्व का बलिदान करना होगा।

उसने प्रकाश और राज़दाँ की आँख से दूर कहीं चले जाने का निश्चय किया। राज़दाँ के कमरे में एक पत्र लिखकर छोड़ दिया। जिसका सारांश था, 'मैं तुम दोनों के सुख से सुखी हूँ। मुझे ढूँढ़ने का यत्न न करना।'

सुधाकर को उसके घर न पा राज़दाँ और प्रकाश लौट आये।

प्रकाश की नजर पत्र पर पड़ी, उसने उठाया, पढ़ा और समझने में देर न लगी कि सुधाकर को धोखा हुआ। उसने राज़दाँ को सारा हाल बताया। वह बेचैन हो पड़ी। उसने संकोच-भरे स्वर में कहा—'प्रकाश बाबू, अपने मित्र को जरूर लाओ। उनके बिना......।'

प्रकाश ने अन्यमनस्क हो कहा—'आखिर सुधाकर को यह सनक सवार ही क्यों हुई? अच्छा राज़दाँ, मैं उन्हें ढूढ़ने जाता हूँ।' वह शाम को ही चल पड़ा।

कुछ दिन इधर उधर भटकने पर भी सुधाकर का कहीं पता न चला। एक दिन वह चन्दननगर की धर्मशाला में ठहरा हुआ था। वहाँ उसे एक व्यक्ति के कराहने की आवाज सुनाई दी।

'अरे सुधाकर, यह क्या, तुम्हारी यह दशा! बुखार! ओह, तुमने अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मार ली। खैर, चलो अब घर चलें। राज़दाँ बहुत बेचैन है।'

सुधाकर ने दुखित कंठ से कहा, 'प्रकाश, तुमने यहाँ तक भी मेरा पीछा न छोड़ा। मैं...मै।'

'मैं...मै कुछ नही। घर चलो।'

प्रकाश उसे ले राज़दाँ से मिलने गया। वह बीमार था। राज़दाँ के पिता ने उसे देखकर कहा, 'सुधाकर, यह क्या?'

सुधाकर ने उत्तर दिया—'कुछ अस्वस्थ था, अब ठीक हूँ। राज़दाँ कहाँ हैं?'

उन्होंने राज़दाँ के कमरे की ओर इशारा कर दिया। सुधाकर और प्रकाश राज़दाँ के कमरे में गये। सुधाकर की आवाज पहिचान राज़दाँ ने आँखे खोली और निर्निमेष दृष्टि से देखने लगी।

प्रकाश ने कहा—'सुधाकर आ गये।'

राजदाँ ने हास्यमिश्रित स्वर से कहा—'ओह सुधाकर! तुम कहाँ चले गये थे? यह धोखा क्यों? कहो, अब तो न जाओगे!'

'जाऊँगा! जाऊँगा कहाँ? प्रकाश और तुमने तो मेरे रास्ते ही रोक दिये। मै प्रकाश का ऋणी हूँ।' फिर उसने राजदाँ के सिर पर हाथ रक्खा। बुखार अधिक था। 'टेम्परेचर अधिक है। डाक्टर बुला दूँ?'

'नहीं, अब डाक्टर की आवश्यकता नही। डाक्टर रोगी को दवा दे चुका।'

× × ×

कुछ दिन पश्चात् वह स्वस्थ हो गई। प्रकाश ने कोशिश कर दोनो को एक सूत्र मे बँधवा दिया। फिर एक दिन उसने राजदाँ से कहा—'भाभी, कहो, कौन रंग की साड़ी अच्छी लगी—नीली या शर्बती?'

वह मुस्करा पड़ी।

अभिशाप या वरदान

प्रकृति अपने में एक रहस्य छिपाये हमारे समक्ष उपस्थित होती है। हममें इतनी शक्ति कहाँ कि हम उसके विभिन्न अंग-प्रत्यङ्गों का अन्वेषण कर सके! इस दो दिन की जिन्दगी में इतना अवसर कहाँ? जीवन की सुधि के साथ हम उसे पहेली की रूप-रेखा में अपने चारों ओर फला पाते है, और जीवन-सन्ध्या के

अवसर पर एक पहेली के नाते ही हम उससे विदा होते हैं। कभी धूप खिलती है, कभी छाया, कभी पानी बरसता है, कभी जाड़ा पड़ता है और कभी गर्मी। आखिर चैत्र का महीना आ ही गया। मेडिकल कालेज के पंखे खुल गये। फव्वारा चलने लगा। शहर के सभी पार्क प्रणय-लीला के सहज क्षेत्र बन गये। किसके लिए? लक्ष्मी के उत्पादकों के लिए नहीं। जब संसार का एक अंग हँस रहा है, अट्टहास कर रहा है, कुल-वधुएँ लक्ष्मी से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी-पुत्र उल्लास से अट्टालिकाओं में हँसते हुए विचरते हैं, उनके लिए खस की टट्टियाँ, बिजली के पंखे, भाँति-भाँति के शर्बत और अन्य चीजें सुलभ हैं, उनके हृदयों में आनन्द का संचार है, तब दुखी हृदय मसल-मसल उठ रहे हैं। उनके हृदय में टीस है —एक चुभन है। पेट पीठ तक लगा हुआ, पिचके गाल, धँसी हुई आँखें और उनमें आँसुओं का वेग सँभाले अभागे भारत का असली रूप, पेट की ज्वाला बुझाने के यत्न में है। किसान खेतों में काम कर रहे हैं। शहरों में मजदूर केवल तीन आने पैसों के वास्ते दिन भर के लिए अपने समस्त सुखों को बेच चुके हैं। वे अपने आँसुओं को भीतर ही भीतर पी जाना चाहते हैं।

पारू को दो पैसों की लालसा ने आनन्द और सुख को तिलाञ्जलि देने पर विवश किया है। सारे संसार में गर्मी के मौसम ने जब परिवर्तन की लहर उठा दी है तब भी पारू बैठी कालेज के फाटक पर लक्ष्मी से नहाये बाबुओं के लिए दुआ मांग रही है—'बाबू जी, एक पैसा···तुम्हें ईश्वर बनाये रक्खे···ऐ बाबू तुम दूधों नहाओ, पूतों फलो। मालिक तुम्हें लाट-कलट्टर बना दे···मोहताज·· भूखी को एक पैसा··· ।' न जाने कितने वर्षों

से वह गेट पर बैठी बाबुओं की शुभ-कामनाओं के लिए प्रार्थना किया करती थी। मुँह थकाया करती थी। न जाने कितनों को उसके आशीर्वाद ने ऊँचे ओहदों पर पहुँचा दिया। उसकी दुआएँ दोनों के साथ थी—जो कोई उसे भिक्षा देता अथवा जो न भी देता। मनुष्य आदर्श का केवल एक ढोंगी पुजारी मात्र होता है। न जाने कितने नवयुवक ऐसे आते जिनके पास इतने पैसे न होते कि कुछ पुण्य कर सकें, पर अधिकांश पैसे से लदे होने पर भी कन्नी काट जाते। दुखी हृदय के लिए उसी हृदय में स्थान हो सकता है जिसमें स्वयं ठोकर लगी हो··· दर्द हो ·····टीस हो। उनके हृदयों में न दर्द था, न टीस और न ठोकर ही लगी थी।

जिन दिनों मैंने कॉलेज में प्रवेश किया, जुलाई का महीना था। पानी रिमझिम-रिमझिम पड़ रहा था। पारू फाटक के नजदीक ही खड़ी नीम तले सिर पर एक चिथड़ा वस्त्र डाले पेट भरने के लिए दो पैसे की याचना में संलग्न थी। मै अपनी मोटर में चला आ रहा था। फाटक में से छः सात विद्यार्थी साइकिल पर चढ़े एक साथ ही गुजर रहे थे, इस कारण मुझे मोटर जरा धीमी कर देनी पड़ी। अचानक मेरे कानों ने सुना······'बाबूजी एक पैसा ···पेट चांडाल······।' मैंने मोटर रोक दी और उतर कर सकरुण नेत्रों से उसकी झोली में एक आना डाल दिया। मालिक करे तुम जुग-जुग जियो, डाक्टर हो जाओ······।' उसने आशीर्वाद दिया। फिर मैं मोटर में बैठ कॉलेज जा पहुँचा, विचारों की तरंगों में उलझा हुआ।

इसके अनन्तर मेरा नित्य का नियम हो गया कि जब मैं

कॉलेज आता, बुढ़िया को एक आना दे दिया करता। वह सुखी जान पड़ती। मेरी मोटर को आती देख उसकी आँखें चमक उठतीं।

एक दिन मैं बिस्तर पर पड़ा करवटें बदल रहा था। गर्मी अधिक होने के कारण कुछ परेशान था। हालाँ कि छत से बिजली का पङ्खा हवा के फव्वारे छोड़ रहा था; परन्तु उसमें कृत्रिमता थी—स्वाभाविक हवा की ठण्ढक न थी। ठीक इसी समय अनायास ही पारू की आकृति आँखों के समक्ष उपस्थित हो गई। हृदय में करुणा का सञ्चार हुआ—पारू किसी अँधेरी कोठरी में जीवन के ये अकाट्य दिन काट रही होगी। न उसमें बड़ा-सा दरवाजा ही होगा और न स्वच्छ हवा और प्रकाश के प्रवेश के लिए खिड़कियाँ ही। मैं इस प्रकार की बातें सोच ही रहा था कि अन्तःकरण ने एक नई धारणा को जन्म दिया—पारू उस अँधेरी तङ्ग कोठरी में जिस सुख का अनुभव करती होगी वह मुझे आराम की समस्त चीजे उपलब्ध होते हुए भी, स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकता। क्या धनिकों को पङ्खा, गद्दा, तकिया, मसनद, मोटर, नौकर-चाकर, अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजन के बीच विचरते हुए उस सुख का आभास भी हो सकता है जो पारू अथवा उसकी अन्य किसी बहिन या भाई को, दिन भर में एक बार आधा पेट भोजन करने के पश्चात् आकाशरूपी छत के नीचे तारों की छटा निहारते हुए अनुभव होता होगा?

इसके पश्चात् दूसरी समस्या ने जन्म लिया—क्या पारू भीख से मिले पैसों को कपड़े-लत्ते बनवाने और खाने-पीने में ठीक प्रकार से खर्च करती होगी? अन्तःकरण ने इसका उत्तर नकारात्मक दिया। निदान मैंने दूसरे ही क्षण यह निश्चय कर लिया कि भविष्य में

मैं पारू को पैसों के बजाय कोई खाने की वस्तु दिया करूँगा। फिर न जाने कब निद्रादेवी की मधुर थपकियों ने मुझे किसी दूसरे संसार में भेज दिया।

दिन भागते गये। कुछ खाद्य-सामग्री पारू को देना मेरा रोज के कार्य-क्रम का एक आवश्यक अङ्ग हो गया था। शाम को कॉलेज-गेट से उठकर जब पारू घर जाती तो चौदह-वर्षीय हेमा भूख से बिलबिलाती रहती। पहले उसे माँ के खाना पकाने तक ठहरना पड़ता था, परन्तु अब उसके घर पहुँचते ही कुछ खाने को मिलने लगा और इस प्रकार उसके पेट की ज्वाला की कुछ सन्तुष्टि होने लगी। बालकों का स्वभाव होता है कि किसी स्वादिष्ट और प्रिय वस्तु को खा चुकने के पश्चात् ही उन्हें उसके सम्बन्ध की अन्य चर्चा भाती है। इसी प्रकार एक दिन जब माँ की लाई हुई पूड़ी-तरकारी, हेमा खा चुकी तब उसने माँ से पूछा—'माँ यह पूड़ी-तरकारी तुझे किसने दी थी? अब तो तुम रोज मेरे लिए कुछ न कुछ खाने को ले आती हो।'

'हाँ बेटी, परमात्मा उन्हें बड़ी उम्र दे। एक बाबूजी बड़े दयालु जान पड़ते हैं। उन्हीं की कृपा का यह फल है कि मेरे घर आते ही रोज तुझे कुछ न कुछ खाने को मिल जाता है।'

'उनका घर कहाँ है, माँ?'

'यह तो मैं नहीं जानती।'

'अच्छा, तुम उन्हें दिखा सकती हो? कल मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।'

'नहीं बेटी, तू मत चलना। एक दिन मैं उन्हें ही यहाँ लिवा लाऊँगी।'

'पर माँ, क्या वे अपने इस टूटे से घर में आना पसन्द करेंगे ? उनके यहाँ नौकर-चाकर, मोटर, आराम के सभी सामान होंगे। उनका अपना सुन्दर-सा बँगला होगा। फिर वे मेरे इस मैले-कुचैले मिट्टी के घर में क्यों आने लगे ?'

'नहीं बेटी, ऐसा मत सोच। वे बड़े नेक आदमी मालूम होते हैं। उनके हृदय में सहानुभूति है।'

'तो किस दिन उन्हें लिवा लाओगी ?'

'इसी सोमवार को।'

'अच्छी बात है।'

तीसरे दिन सोमवार था। मेरे सिर में कुछ हल्का सा दर्द होने के कारण मोटर ड्राइवर चला रहा था। गेट पर पहुँच मोटर रुक गई। ड्राइवर उतरकर पारू को खाद्य-सामग्री दे रहा था कि उसने धीमे स्वर में कहा—'बाबू जी एक अर्ज़ है।'

मैंने मुस्कराते हुए उत्सुकता से कहा—'कहो क्या है ?'

'बाबू, मेरी हेमा तुम्हारा दर्शन करना चाहती है।'

उसके मुख से इतना सुनते ही मेरा दिमाग चक्कर खाने लगा। मैंने प्रश्न किया—'यह हेमा कौन ?'

'बाबू, आज चार वर्ष बीते, मेरा सुहाग लुट गया। तब से बेटी हेमा ही 'उनकी' स्मृतिमात्र शेष है। वही इस वैधव्य-जीवन के सूखे हुए ठूँठ को अपनी मधुर बातों से सींचकर हरा बनाने का प्रयत्न किया करती है।'

मुझे सब बातें समझने में देर न लगी, परन्तु मन 'हाँ, न' का झूला झूलने लगा—मुझे पारू के साथ जाना चाहिए या नहीं ? सङ्कल्प-विकल्प का संसार जागृत हो उठा···मुझे देखने

की न जाने कितनी उमङ्गें हेमा के हृदय में होंगी। मेरे न जाने से उसकी उमङ्गों का महल चकनाचूर हो जायगा। हृदय में एक ठेस लगेगी। मेरी समझ में आया कि दुनियाँ में सबसे बड़ा पाप एक नवयुवती के हृदय को दुखाना या यों समझिए ठेस पहुँचाना है। इसके अतिरिक्त किस आशा को लेकर पारू ने मुझसे घर चलने की विनय की है। मेरे 'नहीं' को सुनकर उसका दिल बैठ जायगा। परिणाम यह हुआ कि मुझे मन में निश्चय कर लेना पड़ा कि पारू और हेमा की साध को पूरा करना मेरा कर्त्तव्य था। कॉलेज से लौटकर चलने का वचन दे, मैंने कार आगे बढ़वा दी।

कॉलेज से छुट्टी पाते ही मैं पारू को मोटर में बैठा, उसके घर की ओर चल दिया। शायद पारू का मोटर में बैठने का यह पहला ही अवसर था। आज वह स्वर्ग के समस्त सुखों का भोग करती प्रतीत हो रही थी। थोड़ी दूर जाने पर पारू के कहने पर मैंने ड्राइवर से मोटर रुकवा दी। सामने एक छोटी सी कोठरी थी, उसके आगे एक सँकरा बारजा और छोटा सा सहन। छप्पर पर पड़ी हुई खपरैल को देख यह सहज में ही ज्ञान हो जाता था कि अब उसकी वृद्धावस्था थी। मोटर की आवाज सुनते ही हेमा अपनी कोठरी के दरवाजे पर खड़ी हो बाहर देखने लगी, परन्तु कुछ क्षण उपरान्त ज्यों ही उसने मुझे और पारू को मोटर से उतर अपनी ओर आते देखा, वह लजाकर अन्दर चली गई। बारजे में पहुँच पारू ने आवाज दी—'बेटी हेमा, जल्दी से खटोला ला, यहाँ डाल। देख तो, आज बाबू जी अपने घर आये हैं।' भीतर से आवाज आई—'अभी आई माँ।' फिर

उसने एक टूटा सा खटोला ला बरामदे में डाल दिया। मैं बैठ गया। घर की सफाई देख मैं दङ्ग रह गया। पूरा फर्श लिपा-पुता साफ-सुथरा था। मेरा हृदय उस सौम्य मूर्त्ति को धन्यवाद देने लगा, जिसके हाथों ने इतनी सफाई करने का कष्ट सहन किया था। मैंने देखा, हेमा ग़जब की रूपवती थी। इसके प्रथम मुझे कभी ऐसा अवसर न प्राप्त हुआ था कि कभी मैंने इतनी अलौकिक सुन्दरता किसी निम्न जाति की लड़की में देखी होती। एक क्षण के लिए मेरी भावनाएँ दूषित होने लगीं, परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने उन दूषित भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ली। हेमा नारी-सुलभ सङ्कोच के आँचल में अपने को छिपाये किवाड़ की आड़ से देख रही थी। मुझे आभास हुआ मानों उसकी चिरसञ्चित आशाएँ आज साकार रूप में उसकी आँखों के समक्ष आई थीं। पारू ने हेमा को मेरा परिचय करा दिया।

फिर वह पारिवारिक घटनाओं का चिट्ठा खोल मेरे समक्ष बैठ गई। कुछ समय तक मैं बड़े ध्यान से सुनता रहा, परन्तु अन्त में कुछ अन्य-मनस्क हो मैंने कहा—'अब जाऊँगा। घर पर लोग इन्तजार करते होंगे।'

'थोड़ी देर और बैठो, बाबू'—पारू ने विनय-भाव से कहा। मैंने तिरछी नजर से देखा, हेमा की आँखों में भी उसी विनय का संकेत था।

पारू के कहने के कारण मैं थोड़ी देर और बैठ, चला आया।

× × ×

फिर मैं अक्सर जब तबियत में आ जाता, पारू की तरफ निकल जाता। मेरे घर के लोगों को इसकी भनक न थी, नहीं तो

शायद मेरे इस कार्य में रुकावट पड़ने की सम्भावना होती। दो महीने और बीत गये। इस बीच में मैं पारू के यहाँ कई दफे जा चुका था और मेरा उससे अच्छा-खासा परिचय हो गया था।

गर्मी की छुट्टी के लिए कॉलेज बन्द हो गया और मै अपने मकान बरेली चला गया। इस जमाने में न जाने कितने आदमी बड़ी-बड़ी डिग्री लिए धोबी के कुत्ते की भाँति यहाँ से वहाँ मारे-मारे फिरते हैं, परन्तु न मालूम किसकी दुआएँ—शायद पारू की—मेरे साथ थीं कि मुझे डॉक्टर की डिग्री मिलते ही एक सरकारी अस्पताल में सौभाग्य से नौकरी मिल गई। मनुष्य की कमजोरी कहिये या उसकी लापरवाही कि तन के कपड़े और पेट की रोटी का प्रबन्ध लगते ही वह मुटा जाता है—उसे अपनी स्थिति पर गर्व होने लगता है। इसी नियम ने मुझ पर भी अपनी प्रतिक्रिया की। थोड़े दिनों में मै पारू और हेमा को बिलकुल भूल गया।

कुछ दिन और बीत गये। मेरी शादी भी हो चुकी थी। इत्तफाक से मेरा तबादला बनारस को हो गया। एक बार पारू की धुँधली सी याद दिमाग में घूम अवश्य गई, परन्तु बनारस सरीखे आनन्द की चीजों से सराबोर, भिन्न-भिन्न आकर्षणों से परिपूर्ण शहर में मैंने अपने आपको खो दिया। नई-नई नौकरी, काम अधिक समझा हुआ न था, इस कारण मैं रात-दिन उसी की उधेड़-बुन में लगा रहता। घर में पत्नी पुष्पा अकेली थी। उसे हिन्दी से विशेष प्रेम था। इस कारण कहानी, उपन्यास आदि के पढ़ने में वह अपना अधिकांश समय बिताया करती। लेकिन मस्तिष्क को किताबों में कबतक लगाया जा सकता है? कोई सीमा होती है। वह भी ऊब उठता है।

पुष्पा मुझसे जब कभी सिनेमा इत्यादि चलने का आग्रह करती, मैं उसे समय न होने का बहाना कर टाल देता। जब तक कि मैं बाहर से वापिस न आ जाता, वह मेरी बाट जोहती रहती। मेरे आ जाने पर मुझे गर्म-गर्म खाना खिला, तत्पश्चात खुद व्रत तोड़ती। पुष्पा मेरे लिए अनेक कष्ट सहन करती, परन्तु मैं उसकी अभिलाषाओं को पूरा न करता। कभी-कभी मुझे अपने ऊपर बड़ा गुस्सा आता, दुख भी होता, परन्तु महीने की पहली तारीख को चन्द चाँदी के टुकड़े मिलने का विचार मुझे कर्त्तव्यपथ से विचलित कर देता।

शहर में एक बड़ा प्रसिद्ध सरकस आया हुआ था। कई बार पुष्पा मुझसे सरकस चलने का आग्रह कर चुकी थी, पर आज-कल का वायदा करते-करते मैं उसे कई दिन से टालता चला आ रहा था। आज उसके हठ ने मुझे अस्पताल से लौट आकर सरकस चलने का वचन देने के लिए विवश किया।

अस्पताल से लौट, कपड़े उतार, हाथ-मुंह धोकर मैं बैठा ही था कि पुष्पा ने चारों ओर मदमाती मुस्कराहट बिखेरते हुए मेरे सामने टेबिल पर हलुए की तश्तरी रख दी और कहा—'लीजिए नाश्ता कर लीजिए।'

ठीक इसी समय मुझे कोई कार्य विशेष याद आ गया। मेरा बायाँ हाथ अचानक ही माथे से लग गया और मैं विचारों में लीन हो गया। पुष्पा ने पुनः नाश्ता कर लेने का आग्रह किया। परन्तु मैंने कोई जवाब न दिया तो उसने चम्मच से हलुवा उठा मेरा हाथ माथे से हटाते हुए, जबरदस्ती चम्मच मेरे मुहँ में दे दिया। उसके इस स्नेह-अभिनय ने मेरे आवश्यक कार्य सम्बन्धी विचारों

को काफूर कर दिया। मैं हलुवा खाने लगा। 'तो मैं चलने के लिए तैयार हो जाऊँ?'—पुष्पा ने पूछा।

'हाँ।'

पुष्पा तैयार हो चुकी थी। धानी साड़ी में लिपटी हुई उसमें जो सौन्दर्य मुझे आज प्रतीत हो रहा था वह मैंने शादी के दिन से आज तक कभी भी अनुभव न किया था। आज इन्द्रपुरी की परियाँ भी उसका सानी रखती न जान पड़ती थीं। मैं भी कपड़े पहिनने लगा। इतने में कमरे में लगी हुई विद्युत-घण्टी टन्-टन् कर बज उठी। मैंने नवागन्तुक के स्वागत करने का, नौकर को आदेश दे दिया। फिर पाँच मिनट पश्चात् मैं नवागन्तुक के सामने जा पहुँचा। वे शहर के प्रसिद्ध सेठ हीरालाल थे।

मैंने पूछा–'कहिए सेठ जी, क्या समाचार है? खैरियत तो है।'

'अजी खैरियत होती तो क्या कहना था! बड़ा बच्चा सख्त बीमार है। चलने में जरा जल्दी कीजिए।'

इतना सुनते ही मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकती मालूम पड़ने लगी। पुष्पा के साथ सरकस जाना था। मरीज के यहाँ न जाने कितना समय लग जाय, तब तक सरकस का टाइम अवश्य ही बीत जायगा। परन्तु जल्दी तय करना था कि क्या किया जाय? दूसरे कमरे में पुष्पा खड़ी सब सुन रही थी और सेठजी के सामने मैं खोया हुआ सा खड़ा था। मैंने एक क्षण पुष्पा को ऊपर से नीचे तक देखा और दूसरे क्षण सेठ जी को। हृदय में विचारों का आन्दोलन मच गया। आखिर सरकस चलने का विचार दब गया। मरीज़ को देखने जाने के विचार ने विजय प्राप्त की। मनुष्य ईश्वर नहीं है कि किसी की जान बचा सके, परन्तु जीवन-

रक्षा का प्रयत्न उसके हाथ है, फल भगवान् के हाथ। तर्क-वितर्क के पश्चात् मैंने यही निश्चय किया कि क्षणिक सांसारिक आनन्द की प्राप्ति से कहीं उत्तम एक जीव की प्राण रक्षा के प्रयत्न में हाथ बटाना है। निदान मै आवश्यक दवाएँ ले, मोटर में बैठ सेठ जी के साथ चल दिया। प्रिय पुष्पा से मैंने बात भी न की।

ईश्वर की मरजी, मेरे दवाई देने के बाद से बच्चे की हालत सुधरने लगी। घर आकर देखा तो पुष्पा अनमनी-सी विस्तर पर पड़ी थी। उसकी भरी हुई आँखों ने उसके दिल की विकलता की सहज ही में अभिव्यक्ति करा दी। मुझे देखते ही उसने आँसू छिपाने का प्रयत्न करते हुए पूछा—'कहिए कैसी तबीयत है?'

'अच्छी है।'

'ईश्वर शीघ्र ही बिल्कुल ठीक कर दे, मेरी यही प्रार्थना है।'

अभी तक उसकी गोद भरी न थी, मातृत्व के सर्वोच्च पद को सुशोभित करने का अवसर प्राप्त न हुआ था, परन्तु उसके हृदय में किसी बच्चे की शुभ कामनाओं की भावना मौजूद मालूम पड़ी। वह यौवन की तरङ्गों में बहती एक अल्हड़ युवती थी, परन्तु स्त्रियोचित सन्तान-प्रेम का बीज उसमें भी अंकुरित हो चुका था जैसा कि प्रत्येक नारी-हृदय में अदृश्य में ही अंकुरित हो जाया करता है।

दूसरे दिन मुझे यह निश्चय करने में देर न लगी कि चाहे कितना भी आवश्यक कार्य क्यों न आ पड़े, पुष्पा के साथ सरकस देखने की बात तय रहेगी। कपड़े पहिन चुकने के पश्चात् ड्रेसिङ्ग-रूम से निकला ही था कि नौकर ने सन्देश दिया—'एक आदमी आपके पास आया है।'

मैंने जवाब दिया—'कह दे, मुझे फुर्सत नहीं है।'

वह चला गया, लेकिन कुछ क्षण बाद फिर लौट आया—'सरकार वह तो जाता ही नहीं। कहता है, डाक्टर साहब को बुला दो, बहुत जरूरी काम है।'

'जाकर कह दे, डाक्टर साहब इस समय किसी से नही मिल सकते। आवश्यक कार्य से बाहर जा रहे हैं। भजन से मोटर तैयार करने को कह दे।'

वह जाकर फिर लौट आया—'हुजूर, वह नही टलता।' मुझे गुस्सा आ गया। मै स्वयं बाहर पहुँच गया। देखा, एक अधेड़ पुरुष खड़ा था। मुझे देखते ही उसने कहना शुरू किया—'मुहल्ले में एक बुढ़िया की लड़की बहुत बीमार है, डाक्टर साहव। कृपया चल कर देख लीजिए।'

मैंने तुरन्त कह दिया—'मैं नही जा सकता।'

'डाक्टर साहव, उसकी एकमात्र लड़की मृत्युशय्या पर पड़ी है आखिरी घड़ियाँ गिन रही है...' —यह कहते हुए उसकी आँखों से आँसू निकल आये। इतने में पुष्पा भी सजी-धजी आ, मेरे समीप खड़ी हो गई। उसके रूप के नशे में मैंने अपनी तर्कशक्ति खो दी। ग़रीब की अनुनय-विनय को ठुकरा दिया। उसके आँसू भी मेरे हृदय को पिघला न सके। मै पुष्पा के साथ मोटर में जा, बैठ गया। वह खड़ा देखता रह गया। दूसरे ही क्षण हम दोनों मोटर में उड़े जा रहे थे। हमें क्या खबर थी कि जब हम सुख-सागर में ग़ोते लगा रहे थे, तब भी भारत के लाखों प्राण तड़प रहे होंगे। उनके दिलों में अन्धकार होगा। साधारणतः जीवन-पथ का अन्धकार मनुष्य के हृदय को कमजोर बना देता है, परन्तु उन पीड़ित आत्माओं का उत्साह और धैर्य देख, बरबस ही उनके प्रति सहानु-

भूति के दो शब्द निकल पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। हम दोनों को उस पीड़ित दुनिया की रञ्चमात्र भी चिन्ता न थी।

साढ़े नौ बजे खेल समाप्त हुआ। हेमा की मृत्यु की चर्चा चारों ओर फैल चुकी थी। घर पहुँचते ही मुझे नौकर से मालूम हुआ, 'एक लड़की मर गई है।'

'किसकी ?'

'एक बुढ़िया की।'

'तुम उसे जानते हो ?'

'नहीं सरकार, लोग उसे 'पारू-पारू' बतलाते हैं।'

यह सुनते ही मुझे काठ मार गया। मैं मूर्तिवत् खड़ा था। मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा—'हैं ! पारू ?'

'हाँ सरकार।'

मैं अपने को अधिक न सँभाल सका। पुष्पा से बगैर कुछ कहे, पागलों की भाँति पारू के घर की ओर दौड़ा। वहाँ का दृश्य दर्दनाक था। कविता सी कोमल हेमा की लाश जमीन को सुशोभित कर रही थी। देहरूपी नवद्वारे में रहनेवाली हवा नाम की चिड़िया उड़ चुकी थी। स्त्री की विशेषताएँ हमेशा विशेषताएँ ही रहती हैं। नारी में शील, सङ्कोच, लज्जा, विनय, कोमलता और मदमादी मुस्कराहट स्वाभाविक है। जागृतावस्था में इन सब की अनुपमता होती ही है परन्तु जीवन में पहली बार आज मुझे ज्ञान हुआ कि सुषुप्तावस्था के भोले अल्हड़पन में उसके उक्त गुणों की छटा और भी निखर जाती है। हेमा के शरीर के हर गुण का पात्र भर जाने से प्रत्येक छलका पड़ रहा था और वह सदा की

नींद सो रही थी। इस समय मेरी आँखों के समक्ष वह स्वर्ग की किसी देवी से बढ़कर थी।

बारजे के सामने के छोटे से स्वच्छ आँगन के एक कोने में दीप-दान रखा हुआ था। मैंने विस्फारित नेत्रों से देखा कि उसके आसपास कुछ जल बिखरा पड़ा था। चारों ओर से उसे एक फूल-माला ने घेर रखा था। कुछ तुलसी-पत्र, चन्दन इत्यादि भी नजर आया। पास ही पाँच नन्हीं-नन्ही पूड़ियाँ करीने से रखी थीं। वह निष्ठुर दीप-दान अभी तक टिमटिमा रहा था, पर हेमा के जीवन का दीप इस क्षणिक संसार से विदा ले चुका, बुझ गया था। पारू ने दीप-दान शायद हेमा के प्राणों की भीख माँगने के लिए किसी देवता की यादगार में रखा था। शुद्ध हृदय से उसकी आराधना की थी, पर वह सफल न हो सकी।

मानव के जब सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं तो निराश हो, वह देवताओं की शरण में जाता है। मानव-स्वभाव की यह परम्परा सी हो गई है कि अपने प्रियजन को जीवन-रक्षा के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुकने पर ही, नीरव आँखों से कब्र में जाने देता है—कर कुछ नहीं सकता। पारू ने भी हेमा के लिए कोई प्रयत्न अछूता न छोड़ा था, पर ईश्वर की इच्छा।

मेरा हृदय बार-बार कहने लगा—'ऐ दीपक, तुम बुझ क्यों नहीं जाते? क्यों अपने अस्तित्व से घाव पर नमक छिड़क रहे हो?' आखिर मेरे देखते ही देखते दीपक की लौ उड़ गई—शायद हेमा की आत्मा से मिलने के लिए।

पारू सिसकियाँ भर रही थी। कुछ टूटे-फूटे शब्दों में उसने अपने अन्तर के भाव व्यक्त करने की कोशिश की—'बेटा...

हेमा...आखिरी वक्त...तुम्हारे दर्शन की लालसा लिए...ही चली गई उसकी साध...अपूर्ण ही रह...गई। मैंने तुम्हें बुला भेजा था, पर तुम...।' यह कहते हुए वह धाड़ मार-मार कर रोने लगी। उसकी दशा देख मैं भी बच्चों की भाँति चीखने लगा। अब तक पुष्पा भी नौकर के साथ आ पहुँची थी। उसने भी मेरा साथ दिया, क्योंकि उसके वगैर मेरा नाटक अधूरा था।

× × ×

दो महीने बीत गए। मेरे चारों ओर था—नैराश्य...विराग ...नैराश्य...विराग। जीवन पहाड़ मालूम होने लगा। कभी सोचता कि आत्म-हत्या कर लूँ, परन्तु ईश्वर ने जिस मानव-बेल के संरक्षण का भार मुझे सौंपा था, उसे नष्ट करने का मुझे क्या अधिकार, यही सोच चुप रह गया। आत्म-हत्या की अवस्था में मानव-जीवन का अंकुर जिस कर्त्तव्य को लेकर फूटा था, वह अधूरा ही रह जाता।

मेरी नौकरी लगने के डेढ़ ही महीने पश्चात् पिताजी का स्वर्गवास हो चुका था। अब घर पर पुष्पा, छोटा भाई मुन्नू और मै ही शेष था। ईश्वर की कृपा समझिए या श्राप, घर में पिताजी काफी धन छोड़ गये थे। श्राप मैंने इसलिए कहा कि लक्ष्मी अधिकांश के जीवन में श्राप बन कर ही आती है। लक्ष्मी मनुष्य को अन्धा बना देती है और मदमस्त हो वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

लक्ष्मी-सम्पन्न मानव-जीवन ऊसर खेत अथवा मरुस्थल है जहाँ कुछ पैदा नही हो सकता, लक्ष्मी-रहित मानव का जीवन नखलिस्तान है जहाॅ थोड़े से श्रम से कञ्चन की उत्पत्ति भी सम्भव

है। नारी का रूप, मोह—भुलावा है—पथ-भ्रष्ट कर देनेवाले हैं। पुष्पा के रूप हठ और लक्ष्मी के नशे ने मुझे उचित कर्तव्य-पथ से डिगा दिया। कब्र में भेजने के पूर्व मैं हेमा को जीवन-रक्षा के प्रयत्न के स्वरूप में अपनी श्रद्धाञ्जलि भी भेंट न कर सका।

संसार एक स्वप्न-सा प्रतीत होता है। रात-दिन एक ही प्रश्न दिमाग में चक्कर लगाया करता है, एक ही पहेली का हल निकालने में मस्तिष्क की सारी शक्ति क्षीण होती जा रही है। वह प्रश्न है—पुष्पा मेरे लिए अभिशाप है या वरदान ?

अतीत के चित्र

'सतीश आज मैं तुम्हारे बनाये नये चित्र देखना चाहता हूँ। दिखाओगे ?'

'हाँ, अवश्य लो बड़ी खुशी से देखो।'—यह कहते हुए उसने अपनी फाइल जगदीश के सामने रख दी। जगदीश चित्र देखने लगा। सारे चित्रों पर सरसरी-सी निगाह दौड़ा कर एक तरफ रखता गया। आखिरी चित्र को वह गौर से देखने लगा और बहुत देर तक देखता रहा।

सतीश पूछ बैठा—'जगदीश, इसमें कौन-सी खास बात है ?'

'कुछ नहीं, यों ही।' पर बात कुछ और ही थी। वह चित्र जगदीश की प्रेयसी से बहुत कुछ मिलता था।

'क्यों जगदीश चुप क्यों बैठे हो ?'

'मैं...। अच्छा अब फिर कहूँगा।'

'नहीं मित्र तुम्हें मेरी कसम। मुझसे छिपाओ नहीं, निर्भय होकर कहो—मित्रता में दुराव कैसा !'

'नहीं, अब इस समय मुझे माफ करो सतीश, फिर कभी कहूँगा।'

'अच्छा यह बताओ, शाम को चाय पीने आ रहे हो ?'

'किस समय ?'

'यही करीब पाँच बजे।'

'अच्छा, कोशिश करूँगा !'

'कोशिश-वोशिश नहीं, निश्चय बताओ।'

'अच्छा, निश्चय ही समझो।'

'अब चलता हूँ।'—जगदीश जाने के लिये उठ बैठा पर इसके पहले कि वह कमरे से बाहर हो, सतीश से कहने लगा—'क्यों मित्र, नाराज तो नहीं हो ?'

'नहीं तो, जरा भी नहीं'...सतीश ने हँसते हुए कहा। फिर वह चला गया। सतीश चुपचाप बैठ सोचने लगा, आखिर जगदीश को यह चित्र क्यों इतना पसन्द आया। उसकी आँखे कह रही थी कि वह उसे देखती ही रहें। अवश्य कुछ रहस्य होगा इसके पीछे। मन में निश्चय किया कि शाम को चाय पीने जाऊँगा, तो इसे लेता चलूँगा। फिर न मालूम वह कब सो गया।

ठीक चार बजे उसकी नींद टूटी। अरे ! यह तो चार बज गया ! बड़ी देर हो जायगी। अभी कपड़े बदलना है और फिर एक मील जाना भी। हड़बड़ा कर उठ बैठा। हाथ-मुंह धोया, कपड़े बदले और चल दिया। जल्दी में वह चित्र लेना भूल ही गया। कुछ दूर निकल जाने पर उसे याद आई। झट साइकिल

घर की ओर मोड़ दी। घर की बैठक में पहुँचते ही उसकी बहिन स्नेह मिल गई!

'क्यों भैया, इतनी जल्दी क्यों लौट आये? आप तो कहते थे, सात बजे तक आऊँगा।'

'यों ही स्नेह, एक चीज भूल गया था।' अपने कमरे में जा उसने वह चित्र लिया और फिर चल दिया।

जगदीश अपने कमरे में बैठा उसका इन्तजार ही कर रहा था। जलपान और चाय तैयार थी। इतने में सतीश आता दिखलाई दिया। कमरे में पैर रखते ही कह चला—'भाई माफ करना, जरा देर हो गई।'

'खैर कोई बात नहीं'—कुर्सी की तरफ बैठने का इशारा करते हुए जगदीश ने कहा। वह बैठ गया।

'मित्र, बनारस कब जाओगे? तुम तो कहते थे—बड़े दिन की छुट्टियों में जाऊँगा। छुट्टियाँ तो शुरू भी हो गई और बीत भी चलीं।'

'क्या बताऊँ, पिता जी ने अभी तक रुपये ही नहीं भेजे। बड़ी उलझन में हूँ?'

'उसमें क्या बात, रुपये मुझसे ले लो। जब आ जायँ, दे देना।' इसी बीच नौकर नाश्ता और चाय का ट्रे रखकर चला गया था। जगदीश का ध्यान ट्रे की ओर गया—'अरे यह तो ठंडी हो रही है। लो शुरू भी करो।' प्यालों में ढाल दोनों चाय पीने लगे। सतीश ने प्लेट में रक्खे हुए समोसे तो खा लिये पर केक नहीं। प्याले में तीन-चार घूँट चाय बची थी।

'अरे यह केक क्यों छोड़ रहे हो?'—जगदीश ने कहा।

'मैं केक तो कभी खाता नहीं।'

'इसमें अण्डा है, इसीलिये?'

'हाँ।'

'नहीं भाई, इस समय तो तुम्हें इसे खाना ही पड़ेगा।'

'नहीं मित्र, दबाव न डालो।'

'तो फिर आज से हमारी तुम्हारी दोस्ती का यहीं अन्त है।'

'ईश्वर के लिये ऐसा मत सोचो, जगदीश!'

'तो फिर इसे उठाकर खा लो।'

'न मालूम मित्र, आज तुम्हें क्या हो गया कि तुम मुझसे इतना आग्रह कर रहे हो।'

'कुछ बात ही ऐसी है।'

'क्या बात है, भाई?'

'यह मेरी भावी-पत्नी की क्रिसमस के उपलक्ष में भेजी हुई सौगात है।'

'कौन है वह?'

'इससे तुम्हें मतलब! मैं कहता हूँ पहले केक खा लो। इन सब बातों की चर्चा बाद में होती रहेगी।'

सतीश चुपचाप केक उठा कर खाने लगा—'परन्तु मित्र यह तो बताओ . क्रिसमस तो ईसाइयों का त्योहार है। हिन्दुओं में तो क्रिसमस मनाई नहीं जाती और न इस उपलक्ष में कोई सौगात भेजने का ही रिवाज है।'

'जाने भी दो इन बातों को। अच्छा, यह बताओ बनारस कब जा रहे हो?'

'रुपये तो तुम दे ही रहे हो। कल ही चला जाऊँगा।'

'कितने रुपये चाहिए ?'

'दस रुपये पर्याप्त होंगे।'

जगदीश ने बक्स खोला और दस रुपये का एक नोट निकाल कर सतीश के सामने रख दिया। घड़ी पौने सात बजा रही थी। सतीश ने नोट उठा कर जेब में रखते हुए कहा—'अच्छा, तो अब इजाजत है न ? स्नेह से सात बजे लौट आने को कह आया था।'

'चले भी जाना, जरा देर और बैठो। तुमसे एक बात कहनी है।'

'अच्छा, तो जल्दी से कह डालो।'

'मैं तुमसे एक चित्र बनवाना चाहता हूँ। बना दोगे ?'

'हाँ, क्यों नही ? पर यह तो बताओ कैसा चित्र हो ?'

'उस दिन जो चित्र मैंने तुम्हारे यहाँ अन्त में देखा था उससे मिलता-जुलता, केवल थोड़े से परिवर्त्तन के साथ।'

सतीश ने अपनी जेब में हाथ डाला—'शायद वह चित्र तो मेरे पास ही है।' और दूसरे ही क्षण उसने वह चित्र निकाल कर जगदीश के सामने रख दिया। चित्र को हाथ में लेते हुए जगदीश ने कहा—'बस ठीक ऐसा ही, सिर्फ इतना ध्यान रखना कि जो चित्र तुम अब बनाओ उसमें युवती के बाये गाल पर तिल बना देना।'

'अच्छी बात है।'

'तो कब तक बना दोगे ?'

'बनारस से लौट आने पर। लेकिन मुझे यह तो बता दो कि उस चित्र से तुम्हारा क्या सम्बन्ध होगा ?'

'यह बाद में पूछना।'

'नहीं, अभी बता दो।'

'वह मेरी भावी-पत्नी होगी।'

'पर वह···।'

'नहीं, अब इसके सिवाय मैं कुछ न बताऊँगा।'

'अच्छा नमस्ते। अब जाता हूँ।' सतीश उठकर चला गया।

× × ×

दिन बीतते गये। दिसम्बर की छुट्टियाँ समाप्त हो गईं। अपनी भावी-पत्नी से जगदीश का पत्र-व्यवहार जारी रहा। दोनों आपस मे यही समझ रहे थे कि किसी को इसकी खबर नहीं है! पर उन्हें क्या मालूम था कि दीवालों के भी कान हुआ करते हैं।

आज जगदीश नित्य-क्रिया से निवृत्त हो पढ़ने बैठा ही था कि इतने में बाहर से किसी ने दरवाजा खटखटाया—'कौन है?'—जगदीश ने कुर्सी पर बैठे ही बैठे पूछा।

'माधव, हुजूर।'

उसने उठ कर दरवाजा खोल दिया और पूछा—'क्या है, माधव?'

'हुजूर, साहब ने बुलाया है।'

'किसने?'

'मुकर्जी साहब ने।'

'अच्छा जाकर कह दो अभी आ रहा हूँ।'

जगदीश केण्टन होस्टल का सेक्रेटरी था और मि० मुकर्जी सीनियर वार्डन। जगदीश इसी विचार में था कि होस्टल सम्बन्धी किसी काम से बुलाया होगा। पर आफिस में पैर रखते ही उसका दिल धड़कने लगा। यह आने वाली विपत्ति की पूर्व सूचना थी।

कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए मि० मुकर्जी ने कहा—'जगदीश, मुझे सख्त अफसोस है। स्वप्न में भी मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में यह कैसी अनहोनी बात पाई। ये जो हेड क्लर्क मि० जैकब के यहाँ स्काट नाम की लड़की है उसके और तुम्हारे बीच मित्रता है।' जगदीश नतमस्तक खड़ा था। वास्तव में दोषी था, फिर कैसे सिर ऊँचा उठता। मुकर्जी कहते गये—'मुझे विश्वसनीय सूत्र से यह भी मालूम हुआ है कि वह तुम्हारे यहाँ इन छुट्टियों मे आया-जाया भी करती थी। ये जो बाते मैं कह रहा हूँ, ठीक है न ?'

जगदीश ने समझ लिया कि अब तो इन्हें प्राय: सारी बाते विदित ही हो गई हैं। छिपाने से कोई फायदा नही। इस कारण उसने सब बाते साफ-साफ बतला देना उचित समझा।

'जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं। मेरा और उसका पत्र-व्ययहार का सम्बन्ध अवश्य था। चाहे आप इसे जायज कहें अथवा नाजायज।'

'तुम झूठ बोल रहे हो। मेरी आँखों में धूल झोंकना चाहते हो—यह सरल नही। मेरी आँखे पैंतालीस जाड़े देख चुकी हैं। तुम्हारे साथ सतीश भी शामिल है ?'

'जी नही।'

'भला सोचो तो क्या तुम उससे शादी कर सकोगे ? क्या वह तुम्हारे उपयुक्त है ? और तुम्हारा समाज तुम्हें इस बात की आज्ञा देगा ? मान लो, वह तुम्हारे पत्र व फोटो प्रमाण रूप में पेश कर दे, तो तुम्हें कानूनन शादी के लिये मजबूर होना पड़ेगा। बोलो इसके लिये तैयार हो ?'

जगदीश की आँखों से आँसू छलछला रहे थे। पैरों के नीचे

से जमीन खिसकती-सी जान पड़ी। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो उत्तर देने के लिये मुंह में जुबान ही न हो। मि० मुकर्जी ने उसकी यह अवस्था देखी, तो बोले—'अभी जाओ, इस सम्बन्ध में मुझसे फिर कभी बात करना।'

जगदीश आफिस से निकल अपने कमरे की ओर चल दिया। उसके पाँव नहीं उठ रहे थे। किसी तरह लड़खड़ाते हुए आ, चादर ओढ़ बिस्तर पर पड़ रहा, पर शान्ति कहाँ। दिल बेचैन था। झट उठ बैठा। इतने में कालेज का समय हो गया। सतीश आ पहुँचा। जगदीश ने दरवाजा खोल दिया और चेहरे पर मुस्कराहट लाने का प्रयास करते हुए उससे हाथ मिलाया। परन्तु फिर भी चेहरा आन्तरिक वेदना का परिचायक बना ही रहा।

'जगदीश आज तुम्हारे चेहरे पर उदासी क्यों? लो मैं तुम्हारे लिये एक बड़ी अच्छी चीज लाया हूँ।'...यह कहते हुए उसने युवती का चित्र निकाल कर मेज पर उसके सामने रख दिया। उसे उसने ठीक वैसा ही बनाया था जैसा कि उसके मित्र ने कहा था। परन्तु बजाय इसके कि वह उसे चित्र के लिये धन्यवाद दे, उसकी आँखों से आँसू निकल आये। सतीश हक्का-बक्का रह गया—'यह क्यों जगदीश?' उसने उसके सिर पर हाथ रख, रूमाल से आँसू पोछते हुए कहा—'क्या बात है मित्र? पागल न बनो।' बहुत कुछ सान्त्वना देने पर जगदीश ने दिल पर एक पत्थर रख सारी बातें उसे बता दीं।

'बस, इतनी सी ही बात है। इसमें फ़िक्र करने की कौन सी जरूरत! ईश्वर की दुआ से सब निपट जायगा। दुखी मनुष्य को सान्त्वना और धीरज बँधाना उसके दुख को कम करने का

सबसे बड़ा अस्त्र है। रोने से भी हृदय की व्यथा कम हो जाती है। 'चलो कालेज चलें जगदीश। पहिली घंटी समाप्त होने में अब केवल पाँच मिनट शेष हैं।'

'नहीं आज कालेज न जा सकूँगा।'

सतीश ने अधिक आग्रह करना उचित न समझा। उसने तो कालेज चलने के लिये इसी ध्येय से कहा था कि वहाँ जाकर मित्रों के बीच बातचीत से जगदीश की वेदना कम हो जायगी पर जब वह राजी न हुआ तो वह चुप हो गया। खुद भी न गया।

उसी दिन शाम को जब मि० मुकर्जी घूम कर वापिस आये तो उन्होंने सारा वाकया अपनी पत्नी मीनाक्षी से कहा और इस सम्बन्ध में उसकी राय माँगी।

मीनाक्षी—'आपने क्या सोचा है ?'

'मैं तो प्रिन्सिपल से कह, उसके निकलवा दिये जाने की कोशिश में हूँ।'

'क्यों आप यह पाप अपने सिर ले रहे हैं ?'

'गलती के लिये उचित दण्ड देना, इसे तुम पाप समझती हो मीनाक्षी ?'

'जी ऐसा तो नहीं; पर मेरे विचार से यह दण्ड अधिक कड़ा हो जायगा। मैं जानती हूँ कि उसने गलती बड़ी भारी की, पर इस समय कोई छोटा-मोटा दण्ड देना ही पर्याप्त होगा अथवा बिल्कुल ही न बोला जाय तो अधिक अच्छा है। उसका यह आखिरी वर्ष है। कालेज से निकाल दिये जाने पर बेचारे की जिन्दगी बरबाद हो जायगी।'

मि० मुकर्जी ने त्योरियाँ बदल कर कहा—'तो तुम्हारा यही

विचार है कि उसे बिल्कुल ही छोड़ दिया जाय। यह कभी नहीं हो सकता। मैं आठ साल से सीनियर वार्डन हूँ। आज तक होस्टल में मेरे देखते ऐसा कोई वाक़या नहीं हुआ। किसी को कानों-कान भी खबर हो गई, तो मेरी क्या स्थिति होगी ?'

'यह ठीक है। मगर यह उसकी चढ़ती हुई जवानी है। जब नवयुवकों की रगों में जवानी का खून दौड़ता है, तो वे ज़रा भी ख्याल नहीं करते कि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह उचित है अथवा अनुचित। उसके लिये किसी को क्या दोषी ठहराया जाय। यौवन का नशा दरिया का सैलाब है जब कि दरिया अपने आस-पास के सुन्दर से सुन्दर मकान, झाड़ इत्यादि सब को समेटता हुआ चला जाता है।'

'पर इससे तो सहमत होगी कि उसे कुछ न कुछ दंड मिलना आवश्यक है, नहीं तो उसकी आदत बिगड़ती ही जायगी। इन्सान ठोकरें खाकर ही ठीक रास्ते पर आता है !'

'इस समय उसे आगे के लिए ताक़ीद कर देना ही यथेष्ट होगा। इसके अलावा यदि आप उसे कोई कड़ा दंड दिया हो चाहते हैं, तो उसे इम्तहान के बाद कार्य रूप में परिणित कीजिएगा।'

'अच्छा, अभी मैं इस सम्बन्ध में चुप ही रहता हूँ। परन्तु तुम्हें इसकी भी खबर है कि ये जो सतीश अक्सर जगदीश के साथ रहता है, उसका और तुम्हारी नीलिमा का भी तो कुछ सम्बन्ध है। दोनों के बीच प्रेम-डोर तन चुकी है। ज़रा सा कुछ हो गया, तो सारी बदनामी मेरे सिर आ जायगी। तुम्हें क्या, तुम तो घर में बैठी रहोगी। तुमसे कोई थोड़े ही कुछ कहेगा। मुझे तो बाहर निकलना है। कालिख लगेगी मेरे मुंह में, लोग थूकेंगे तो मेरे

नाम को और फिर सब से बड़ी बात तो यह है कि उसके पिता ऐसी कोई बात सुनेंगे, तो क्या कहेंगे। यही सोचेंगे......गई थी पाहुना बनकर, लेकिन एक विचित्र परिस्थिति खड़ा कर आई।'

'खैर! इतवार को तो वह चली ही जायगी—न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। फिर मैं उसे आज घुड़कभी दूँगी। कुछ शक तो मुझे भी हो रहा था, क्योंकि दोपहर को जब मैं और बहिन सीने पिरोने का काम करने लग जाती हैं, आप कालेज चले जाते हैं, तब से लेकर शाम के पाँच बजे तक वह आँगन में ही पद्मा और अजित के साथ किलकारियाँ भरा करती है।'

× × ×

आज इतवार था। गिरजाघर से आकर मि० जैकब बैठे ही थे कि मि० मुकर्जी आ गये। 'आइए मि० मुकर्जी, आप तो दिखलाई ही नहीं पड़ते। जिस दिन से स्काट गई है, आज दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।'

'जिस बात को सोच कर मैंने आपसे स्काट के भेजने का आग्रह किया था वह आज सुन लो।'—यह कहते हुए मि० मुकर्जी ने चार पत्र, एक स्काट का जगदीश के नाम और अन्य तीन जगदीश के स्काट के नाम निकाल कर टेबिल पर मि० जैकब के सामने फेक दिये। बड़े गौर से जैकब बाबू चारों पत्र पढ़ गये।

आज़ जैकब बाबू की आँखों के सामने से पर्दा हट गया—'ओफ! लड़कियाँ भी कितनी चालाक होती हैं! उनकी माया ईश्वर ही जाने।'

'उस समय तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई थी! अब चले हो नसीहत की बातें करने। इस पत्र पर भी ज़रा ग़ौर किया। सुनो स्काट

जगदीश को क्या लिखती है...'आज मैं यहाँ से घर जा रही हूँ .. छः बजे शाम को...बम्बई एक्प्रेस से। वह निष्ठुर ट्रेन मुझे ले ही जायगी...काश ! मैं रुक सकती...।'

'हाँ, उस दिन जब मैं स्काट को पहुँचाने स्टेशन गया था, तब भी जगदीश को मैंने प्लेटफार्म पर घूमते देखा था। साथ में कोई एक लड़का और था। मुझे क्या खबर थी कि यथार्थ बात क्या है। मैंने समझा था किसी रिश्तेदार को पहुँचाने या लेने आये होंगे। मुझे स्वप्न में भी ख्याल न था कि स्काट से ही उसका कुछ रिश्ता है। अच्छा यह बताइए, आपके हाथ ये पत्र कैसे लगे ?'

'इसको पूछकर आप क्या करेंगे ?'

'जहाँ इतनी बातें आपने बताई, वहाँ इसी को क्यों छिपाना चाहते हैं ?'

'मीनू पत्र लाने, ले जाने का कार्य करती थी। एक दिन वह करीब आठ बजे रात को आपके यहाँ से छुट्टी पा, सीधे घर जाने की अपेक्षा होस्टल के सामनेवाली सड़क पर घूम रही थी। इतने में उसकी माँ उधर से आ निकली। उसने मीनू को सड़क पर घूमते देखा और कुछ अन्तर पर किसी लड़के को भागते पाया। उसके मन में शक हुआ—'इतनी रात गये यहाँ क्या कर रही है मीनू ?'

मीनू सहम गई, डरते-डरते उत्तर दिया—'कुछ नहीं माँ, यों ही बाजे की आवाज सुनकर चली आई थी।' पर उसे सन्तोष न हुआ। मारती-पीटती घर ले गई और असल बात मालूम करनी चाही। जाति की वह चमारिन थी, पर उसे भी अपनी अस्मत का ख्याल था। मार के सामने भूत भी भागते हैं। उसने जगदीश

का पत्र जो वह उसी समय लेने गई थी, निकालकर माँ के सामने रख दिया। माँ पढ़ी-लिखी तो थी नहीं, इस कारण उसने पत्र अपने बेटे को ले जाकर दिया और पूछा—'देख तो बेटा, इसमें क्या लिखा है—मीनू को ये जगदीश नाम के लड़के ने जो कैप्टन बोर्डिङ्ग में रहता है, स्काट के पास ले जाने के लिये दिया था।' वह भी अधिक न पढ़ा था, इस कारण पूर्ण मतलब न निकाल सका। इत्तफाक से दूसरे दिन वह पत्र लेकर मेरे पास पहुँचा, तब मुझे सारा किस्सा मालूम हुआ। मैंने उससे मीनू को डरा-धमका कर, स्काट के सन्दूक में से दो पत्र और भी मँगवा लिये। आखिरी पत्र भी जगदीश के पास न पहुँच सका। मीनू को इस बात का पता था कि स्काट और जगदीश का आपस में प्रेम है। स्काट ने मीनू से कोई बात छिपा भी नहीं रखी थी। रोज मीनू स्काट को जगदीश का पत्र अपने सन्दूक में बहुत छिपा कर रखते देखती थी।'

'परन्तु जब जगदीश के पास आखिरी पत्र न पहुँच सका तो उसे कैसे मालूम हुआ कि स्काट फलाँ दिन अमुक गाड़ी से जा रही है?'

'पता लगा लिया होगा। लुक-छिप कर दोनों आपस में मिलते ही रहते थे। आप लोगों के कान में जूँ भी न रेंगी।'

'मेरी लापरवाही का ही यह परिणाम है।'

'खैर! जो कुछ भी हो इसे आप जानें।'

'आपने जगदीश को क्या दंड देने का निश्चय किया है?'

'इस बात के लिये मैं आपसे कहूँगा कि अभी कुछ दंड उचित

मि० सरकार बड़े हँसमुख और मिलनसार व्यक्ति थे। जगदीश को देखते ही बड़ी उत्सुकता से पूछा—'क्या बात है भाई ?'

'श्रीमान्, मैंने अपना टी० सी० और चाल-चलन का सर्टीफिकेट मँगाया था, पर चाल-चलन के सर्टीफिकेट में प्रिन्सिपल साहब का हस्ताक्षर नहीं है। मालूम होता है, जैकब बाबू हस्ताक्षर करवाना भूल गये। मुरादाबाद जा रहा था। आपसे हस्ताक्षर कराने चला आया हूँ।'

मि० सरकार ने हस्ताक्षर कर दिये। जगदीश ने अभिवादन किया और अपना रास्ता लिया। उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वहाँ से सीधा सतीश के घर पहुँचा और अपने पास होने पर खुशी जाहिर की। दोनों ने एक दूसरे को मुबारकबाद दिया।

सतीश कह चला—'क्या बताऊँ जगदीश, स्नेह की शादी भी हो चुकी, तुम्हें निमन्त्रण न भेज सका। पता ही न मालूम था।'

बातें हो ही रही थीं कि इतने में नौकर ने आकर पूछा—'चाय लाऊँ, हुजूर ?'

'हाँ, दो प्याले बना लाओ।' चन्द मिनटों में चाय और नाश्ते का ट्रे आ गया। दोनों मित्र चाय पीने लगे।

सतीश पूछ बैठा—'क्यों भाई, वह चित्र तो सुरक्षित है ?'

'चित्र सुरक्षित है पर स्काट के मिलने की कोई आशा नहीं। तुम्हें सारी बातें विदित ही हैं।'

'तो अब बताओ, मैं अपनी भावी भाभी का कैसा चित्र तैयार कर दूँ ?'

'मित्र खिल्लियाँ न उड़ाओ; घाव पर नमक न छिड़को।'

'मित्र, ये केक तो मैं न खाऊँगा।'—जगदीश ने कहा।

'क्यों, इसके खाने में क्या दोष ?'

'मैंने केक न खाने का प्रण किया है।'

'क्या उसी दिन से जब तुमने अपनी भावी-पत्नी द्वारा भेजी केक मुझे जबरन खिलाई थी ?'

'हाँ, ऐसी ही कुछ बात है।'

'पर इस केक को चाहे स्नेह की शादी के उपलक्ष का समझो या मेरे परीक्षा में उत्तीर्ण होने का। तुम नहीं सोच सकते कि तुम्हारे न खाने से मुझे कितना दुख होगा !'

'परन्तु—'

'मै कुछ नही सुनना चाहता। तुम्हें केक खाना पड़ेगा। पागल न बनो। भूल जाओ उन अतीत के चित्रों को। उन्हें याद कर आँसू बहाना ठीक नही। इस तरह यदि मनुष्य पिछली बातों को सोचता रहे तो दुनियाँ का कार्य ही रुक जाय। वह सारा किस्सा स्काट के साथ ही समाप्त हो गया।'...यह कहते हुए उसने कॉटे से केक का एक टुकड़ा उठा सस्नेह जगदीश के मुँह में दे दिया। जगदीश की आँखों के रोशनदानों से आँसू झाँकने लगे।

इनाम

पड़ोस में शादी होनेवाली थी। राजेश्वर को इसका पता तब चला, जब इधर-उधर के सम्बन्धियों का आना शुरू हो गया। यों उसे इन बातों की खबर भी कैसे होती! दस बजते ही कालेज चला जाता और पाँच बजे लौटकर, शाम खेल कूद में बिता देता। इतनी फुरसत ही कहाँ थी कि अड़ोस पड़ोस की एक डायरी रखता। हाँ, वह सिनेमा-जगत से भली-भाँति परिचित रहता। किस सिनेमा-भवन में कौन-सा चित्र चल रहा है या कौन अभिनेत्री सौन्दर्य-प्रतियोगिता में सर्वप्रथम आई है, ये सब बातें उसे विदित रहतीं।

आज वह अपने मामा को लेने स्टेशन गया। गाड़ी आने में देर थी। वह प्लेटफार्म पर टहल रहा था—हाथ में कहानियों की एक मासिक-पत्रिका लिये। हवा के झोकों ने ठंड अधिक कर दी थी। यद्यपि वह घर से चाय पीकर चला था, परन्तु ठंड इतनी कड़ी पड़ रही थी कि एक बार फिर से चाय पीने का लोभ वह संवरण न कर सका। होटल के नौकर को एक प्याला चाय लाने का आदेश दे, वह पत्रिका के पन्ने यों ही उलटने लगा। वह चाय खत्म ही कर रहा था कि इतने में गाड़ी आ गई। उसने मामा को अभिवादन किया। अभिवादन का उत्तर देते हुए मामा ने पूछा—'क्यों अच्छे तो रहे, राजेश्वर?'

'जी हाँ।' राजेश्वर ने मुस्काते हुए उत्तर दिया।

गाड़ी पाँच मिनट रुककर चल दी। राजेश्वर तथा उसके

मामा एक ताँगे में सामान रखवा, उसे लूकरगंज चलने का आदेश दे, बैठ गये। ताँगेवाला घोड़े के साज का कोई हिस्सा ठीक करने लगा, इस कारण कुछ विलम्ब हुआ। ठीक इसी समय राजेश्वर ने देखा कि कुछ मुसाफिर एक दूसरे ताँगे में लद रहे थे—लद रहे ही कहना ठीक होगा, क्योंकि वह तो एक पूरा परिवार जान पड़ता था—तीन वयस्क, एक पुरुष और दो स्त्रियाँ, एक कुमारी और कई बच्चे-कच्चे। सबके लद चुकने पर ताँगा मचर-मचर करता हुआ सडक पर बढ़ा। इसी बीच राजेश्वर का ताँगा भी चल दिया।

करीब आध घण्टे तक बराबर चलते रहने के पश्चात् आगे जानेवाला ताँगा राजेश्वर के घर के पास वाले मकान के सामने रुक गया। उसे जरा अचरज हुआ कि इतने सारे प्राणी एक साथ पाहुने आ पहुँचे। मामाजी उतर कर अन्दर चले गये और वह स्वयं सामान उतारने के लिये नौकर को आवाज दे, ताँगे के पास कुछ देर खड़ा रहा। सामने कुछ दूरी पर दूसरे ताँगे से उतरी हुई कुमारी भी खड़ी थी। दोनों ने एक दूसरे को तिरछी नजरों से देखा। फिर वह घर के अन्दर चला गया। किसी आकर्षक वस्तु का चित्र जब हमारे स्मृति-पटल पर एक बार अंकित हो जाता है, तो उसका मिटना असम्भव-सा प्रतीत होने लगता है। अमिट रोग की भाँति वह मस्तिष्क से चिपट जाता है। बार-बार सोने के बहाने भूलने का प्रयास करने पर भी, वह कुमारी को न भूलता—सुन्दर-सा ढाँचा, हवा मे लहराती हुई हल्के गुलाबी रंग की साड़ी, उसके प्राकृतिक रंग से होड़ लगाने का उपक्रम करती हुई। फिर न जाने कब कुछ

क्षण पहले की और वर्तमान की रूप-रेखा खींचते-खींचते उसकी नींद लग गई।

दूसरे दिन बारात आने को थी। दिन में कई बार राजेश्वर पड़ोस के मकान में जा, किसी-न-किसी बहाने झाँक आया; पर वह कुमारी उसे एक बार भी दिखलाई न पड़ी। जब हम एकदम किसी वस्तु की ओर से निराश हो जाते है, तो झुँझला उठते है। फिर कुछ क्षण उपरान्त हमारे हृदय में एक नई लहर का उद्भव होता है और हम भविष्य में उसे पाने की दलील पर आशा का महल चुनकर हृदय को शान्ति देते हैं। राजेश्वर की अवस्था भी ठीक इसी प्रकार की थी। जब कई बार जाने पर भी उसके दर्शन न हुए, तो वह झुँझला उठा और फिर सहसा कुछ क्षण पश्चात् ख्याल आया कि शाम को मुझे बारात को खाना परोसने के लिये रसोई-घर में जाने का अवसर प्राप्त होगा ही। पर एकाएक यह महल भी ढह गया—यह सोचकर कि उस दिन तो पौनछक जनवासे मे ही भेज देने की रीति है। हृदय में फिर कोलाहल मच गया।

रात में भाँवरों के समय राजेश्वर उसकी धुँधली-सी आकृति देख सका, जो उसके हृदय की कसक को कम करने की अपेक्षा उत्तेजित करने में ही समर्थ हुई।

× × ×

शादी समाप्त हो गई। राजेश्वर और कुमारी दोनों के हृदयों में प्रेम-तीर चुभ चुके थे। वेदना होना स्वाभाविक था; पर वह तीव्र न होकर मीठी थी जो कि अधिक कष्टप्रद होती है। एक को दूसरे की अनुपस्थिति खलने लगी। आँखों ने एक दूसरे के बीच

घनिष्टता अवश्य स्थापित कर दी थी; पर वह शब्दों के रूप में ओठों से व्यक्त न हुई थी। प्रेम में वास्तविक आनन्द तभी तक होता है, जब तक वह दो हृदयों में भावनागत रूप में राज्य करता है; परन्तु शब्दो में प्रकट हो, प्रेयसी से उत्तर पाने की आशा का उदय होते ही, वह क्रमशः कम होने लगता है।

सुख द्रुतगामी होता है। दिन शीघ्र ही व्यतीत होते गये। अब दोनो की आपस मे बोलचाल भी हो चली थी। उनकी आपस की मुलाकात किसी को अखरती न जान पड़ी; पर अधिक मीठे से मुँह बॅधने लगता है। राजेश्वर का बचपन जवानी की अॅगड़ाई ले चुका था। कुमारी मे नारीत्त्व का विकास शुरू हो चुका था। प्रथम सशंकित नेत्रों से लोगों ने दोनो को देखना शुरू किया और फिर कुमारी के राजेश्वर से घुलमिल कर नाज़-नखरे के साथ बात करने पर अँगुलियाॅ उठने लगी।

जब स्त्री-समुदाय भोजन कर रहा था, उसी बीच कुमारी की मॉ ने उससे कहा—'बेटी अपना सारा सामान ठीक कर ले। तू बड़ी लापरवाह है। तेरी एक चीज यहॉ रहती है, तो एक वहॉ। सोमवार को चलना होगा।'

कुमारी के मुख से 'अच्छा' तो निकल ही गया; पर मुँह का कौर गले से नीचे उतरते ही, दूसरा कौर लेने की इच्छा न हुई। आखिर रसोई-घर से उठकर उसने कुल्ला कर लिया। चलने की खबर सुनते ही वह उद्विग्न हो उठी। अपने घर को लौटने के विचार से सभी को खुशी होती है; पर परिस्थिति-विशेष में परिणाम विरुद्ध भी हो जाया करता है।

कुमारी उसी दिन से राजेश्वर से कटी-कटी सी रहने लगी।

'हाँ, हमें इसके लिये ईश्वर मजबूर ही करता दीखता है। शायद हमारे सुखमय क्षणों का पुनरागमन फिर न हो।' उसका हृदय कातर हो रहा था और नेत्र सजल थे।

'कुमारी, यह कैसा स्वाँग ? क्या तुम्हे उस घड़ी तक ठहरने की क्षमता नही, जब हम तुम बिदा होंगे ? फिर क्यो कल के बदले तुम आज ही मुझे बिदाई दे रही हो ?'

'यही मानव की कमजोरी है।'

'मैने आकांक्षा की थी, बिछुड़ते समय तुम्हारे विकसित चन्द्र-मुख का एक कल्पना-चित्र खीच, अपने हृदय-पटल पर अंकित कर, भविष्य की सुखद-स्मृति के निर्माण के लिये रख लूँगा। पर तुम्हारे शब्दों से मेरी आशा निराशा में परिणित हुआ चाहती है।'—यह कहते हुए उसके हाथ अनायास ही कुमारी की ओर उठ, उसके गले में पड गये। दोनो को एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव हुआ।

'कुमारी !'

'हाँ।'

'तुम रोती क्यों हो ?'

'अपने सुख का अन्तिम क्षण आया जान।'

'पगली कही की ! सुख-दुख तो मानव-जीवन के साथ लगा ही रहता है।' इतने में अन्दर से आवाज आई—'कुमारी।' और वह भागकर चली गई।

ईश्वर राजेश्वर के प्रारब्ध पर आशा की रेखाएँ खींच रहा था। जब से अरुणा, शादी होने पर, ससुराल चली गई, उसकी माँ अत्यन्त दुखी रहती। वही उसकी इकलौती लड़की थी। अब

वह न ठीक से खाती, न पीती। कुमारी के घर जाने का समय समीप जान, उसकी व्यथा और अधिक बढ़ गई। अरुणा के ससुराल से लौटने तक कुमारी से ही जी बहल जाया करेगा, यह सोच, उसने कुमारी की माँ से प्रार्थना की, कि कुछ दिनों के लिये वह कुमारी को यहीं छोड़ती जाय। कुमारी की माँ ऐसा करने के लिये तैयार हो गई। दूसरे दिन कुमारी के अतिरिक्त अन्य सभी सम्बन्धी चले गये।

× × ×

राजेश्वर के पिता स्थानीय हाई स्कूल में शिक्षक थे। कुमारी के चाचा विजय वर्मा शहर के प्रसिद्ध डाक्टरों में गिने जाते थे। कई वर्षों से पड़ोस में रहने के कारण मास्टर साहब और डा० वर्मा में बहुत घनिष्ठता हो गई थी। इस कारण मास्टर साहब के परिवार में जब कोई अस्वस्थ हो जाता, तो डा० वर्मा का ही इलाज होता।

कुमारी और राजेश्वर के सम्बन्ध में लोगों ने अँगुलियाँ उठाना शुरू कर ही दिया था, पर इस आग का प्रवेश घर के लोगों में न हुआ था—बाहर के लोगों में ही छिपे तौर पर इसकी चर्चा थी। फुल्ला कहारिन उन औरतों में से थी जिन्हें दूसरों के घर में आग लगा कर तमाशा देखने में मजा आता है। आज जब वह डाक्टर साहब के यहाँ टहल करने गई, तो मीठी-मीठी बातों में ही उनकी पत्नी के कानों में उसने राजेश्वर और कुमारी के प्रेम की भनक डाल दी। उनका पारा चढ़ गया। नतीजा यह हुआ कि कुमारी घुड़क दी गई। उसे राजेश्वर के साथ उठने-बैठने की भी मनाही हो गई। इस प्रकार दोनों के बीच एक रेखा खीच दी गई

पर यह रेखा तो मानव-निर्मित ही थी। उसमें ईश्वर का लेशमात्र भी हाथ नहीं था। कुछ दिनों में ही दोनों के बीच खींची गई यह रेखा विलीन हो गई और उन दोनों का कार्य पूर्ववत् चलने लगा। इधर डाक्टर साहब ने भी जब यह बातें सुनीं, तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। उनकी भी कुछ जिम्मेदारी थी—दूसरे की लड़की उनकी संरक्षता में रहते हुए बदनाम हो जाय, तो संसार क्या कहेगा। उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सारी व्यवस्था ठीक हो जाय, पर असम्भव-सा जान पड़ा। प्रेम का बीज अंकुरित जो हो चुका था।

जब डाक्टर साहब ने कोई वश चलता न देखा, तो एक दिन चुपके से कुमारी को उसके घर—पटना पहुँचा आये। बालक या बालिका के जीवन में अच्छाई अथवा बुराई के समावेश के तीन प्रधान स्थल हैं—प्रथम घर, द्वितीय स्कूल और तृतीय घर और स्कूल के बीच का मार्ग। कुमारी स्कूल की छात्रा थी। इत्तिफाक से राजेश्वर के पास उसका स्कूल का पता था।

× × ×

स्कूल लगा हुआ था। तीसरा घंटा समाप्त होने ही वाला था कि स्कूल की चपरासिन ने कक्षा में प्रवेश किया—हाथ में एक लिफाफा लिये हुए। अध्यापिका ने लिफाफा हाथ में ले, ऊपर का पता पढ़ा और फिर कुमारी को बुला, उसे पत्र दे दिया। पत्र के बायें कोने पर 'राजेश्वर' लिखा देख, कुमारी का चेहरा चमक उठा। राजेश्वर से अलग होने के ठीक तीन महीने पश्चात् आज उसे यह पत्र प्राप्त हुआ था। उसने लिफाफा खोल लिया। हृदय में विविध कल्पनाओं का जन्म हुआ। उन्होंने वियोग के तीन

महीने के समय के, अपने दिल के गुबार कलम द्वारा कागज पर अंकित किये होंगे। उसका दिल पत्र पढ़ने के लिए बार-बार फड़फड़ाने लगा; पर अन्य सहेलियों के बीच, उसने पढ़ना उचित न समझा। आखिर चौथा घंटा भी शुरू हो गया। कुमारी की तबीयत पढ़ने में न लगी। अध्यापिका से सिर-दर्द का बहाना कर, छुट्टी माँग ली। घर के अपने कमरे में जाकर काँपते हुए हाथों से पत्र खोलकर पढ़ने लगी—

'मेरे हृदय-मन्दिर की रानी,

आज हमारे तुम्हारे बीच तीन महीने का समय बीत चुका। प्रेम के प्रवेश-द्वार पर पैर रखते ही, हम कुछ खो देते हैं और कुछ पा जाते हैं। मुझे नहीं मालूम, मैंने क्या पाया; पर इतना अवश्य अनुभव करता हूँ कि मेरा भी कुछ खो गया है। तुम्हें याद होगा, तुमने कहा था, संसार की ऐसी कोई भी शक्ति नहीं जो हम दोनों को अलग कर सके। हमारे शरीर दो भले ही हों, पर हृदय जुड़ चुके हैं। परन्तु अफसोस, कहाँ रही आज तुम्हारे उस कथन की सत्यता, जब समय के इतने से दरम्यान में ही तुम मुझे भूल-सी गईं।

तुम्हें याद रखना चाहिये, प्रेम-मार्ग में फूल नही बिछे रहते—यह मार्ग कंटक-मय होता है। उस पथ पर सफलतापूर्वक चलने की इच्छा रखने वाले पथिक को कठिनाइयाँ अपनानी पड़ती हैं। इस मार्ग में पैर रख, फिर पीछे लौटने को मैं कायरता के अतिरिक्त और कुछ नही कह सकता। मदिरा के एक बार ओठों से लग जाने पर जिस प्रकार चस्का पड़ जाता है, ठीक उसी तरह यदि प्रेम को भी मदिरा कहा जाय तो अतिशयोक्ति

न होगी। प्रेम परिष्कृत होने के लिये तपस्या, साधना, त्याग और आहुतियाँ चाहता है। आहुतियों की कसौटी पर खरा उतरने से सुख का अथाह सागर उमड़ आता है।

यों मैं मूर्त्तिपूजा का पक्षपाती नहीं, परन्तु अनजाने ही हृदय-मन्दिर में जिस प्रतिमा की स्थापना हो गई है, उसके अर्चन की बरबस ही इच्छा हो आती है।

मनुष्य एक क्षण के लिये स्वप्न देखता है, पर उसी में एक युग की कहानी लिखी रहती है। मैंने तुम्हारे प्रेम का स्वप्न देखा और वह मेरी जीवन गाथा का प्रथम परिच्छेद बन गया।

हमारा निर्माण सुख-दु:ख सहने के लिये हुआ है, फिर हमारे पथ में चाहे कितनी ही विकट परिस्थितियाँ क्यों न आये, हम हँसकर उनका स्वागत करेंगे। मनुष्य का हृदय अभिलाषा का उद्गम है; उस अभिलाषा की पूर्त्ति हमें सुख देती है। तुम अपने हृदय को टटोलो, उसमें अभिलाषा होगी और उसके कण-कण में प्रेम का अंश। ईश्वर तुम्हारी उस अभिलाषा को पूर्ण करे।

तुम्हारा,
—राजेश्वर।'

कुमारी सारा पत्र पढ़ गई पर संतोष न हुआ। दूसरी, तीसरी और चौथी बार पढ़ा। उसके प्रत्येक शब्द मे जादू था। दिल में नवीन भावनाओं की जागृति हुई। तीन महीने पहिले के चित्र उसकी आँखों के सम्मुख उपस्थित हो गये। वह सोच रही थी, कितना सुहावना था, वह समय, लेकिन आज उसके जीवन की जैसे सन्ध्या हो चुकी। नदी के एक किनारे चकवी दुःख से विह्वल

हो रही थी और दूसरे किनारे पर चकवा।

× × ×

डाक्टर वर्मा की धर्म-पत्नी को राजेश्वर भाभी कहा करता था। आज जब वह कालेज से आया, अत्यन्त प्रसन्न था। ज्यों ही उसने ऊपर जाकर कपड़े उतारने के लिये कमरे में पैर रक्खा कि सामने वाले कमरे से डाक्टर साहब की पत्नी ने आवाज दी—'अजी लाला जी, जरा सुनिये तो...आप तो आज-कल ईद के चाँद हो रहे हैं।'

राजेश्वर ने कहा--'अभी आया भाभी, दो मिनट में।' वह कपड़े उतार ही रहा था कि भाभी उसके कमरे में दाखिल हो गईं। राजेश्वर की माँ नीचे चली गई थी।

'लाला, आज तो बड़े खुश नजर आते हो'—भाभी ने मुस्कराते हुए कहा।

'क्या तुम्हारी इच्छा है, मैं रोऊँ? इस दो दिन की जिन्दगी को हँसी-खुशी बिताना ही चाहिये।'

'ठीक है, पर आज जरूरत से अधिक खुश मालूम पड़ते हो। क्या बात है?'

'कुछ तो नहीं।'—यह कहते हुये उसकी आँखे नीची हो गईं। भाभी ऐसे अवसर पर, बौछार करने से न चूकीं—'आप तो ऐसे झेंप रहे हैं, जैसे कोई नवयुवती हो और उसके विवाह के सम्बन्ध में उससे सम्मति माँगी जा रही हो। क्या कहीं से आपकी भी मँगनी आई है?'

कुछ क्षण चुप रहने के पश्चात् राजेश्वर ने उत्तर दिया—'भाभी, तुम तो हर समय मजाक किया करती हो।' यह कहते हुए

उसने चेहरे पर कुछ उदासीनता का भाव लाने की चेष्टा की। भाभी ने उसे जरा उदासीन देख, बात-चीत का विषय बदल कर कहा—'उस दिन मेरा जो रूमाल आप उठा कर भाग आये थे, उसे तो लौटा दो। किसी का रूमाल पास रखना ठीक नही।' यह कहते हुये वह खूँटी पर टँगे हुए उसके कोट की ओर बढ़ी।

'मेरी कसम भाभी, ठहरो कोट को मत छूना। उसमें आपका रूमाल नही है। मैं दे रहा हू।'

भाभी के हृदय मे सन्देह ने जन्म लिया और राजेश्वर के मना करते ही करते, उसने कोट की अन्दर वाली जेब में हाथ डाल दिया। वासन्ती रंग का एक बड़ा सुन्दर लिफाफा उसके हाथ लगा। पते की लिपि किसी स्त्री की मालूम पड़ती थी। उसका सन्देह पुष्ट हो गया। इतने मे नौकर चाय लेकर आ पहुँचा। राजेश्वर ने भाभी की तरफ इशारा करते हुये कहा—'इन्हें दो, मै आज चाय नही पिऊँगा।' एक प्याला चाय मेज पर रखकर नौकर चला गया।

माॅ ने पूछा—'यह चाय क्यों लौटा लाया रे?'

'मालकिन, भैया ने नही ली।' इतना सुन माॅ ऊपर जा पहुँचीं 'क्यों बेटा, चाय क्यों नहीं ली?'

'माता जी, आज इच्छा नही है। रास्ते में एक दोस्त के घर पीकर आ रहा हूँ।'

डाक्टर साहब की पत्नी ने अच्छा मौका देखा और माँ के ऊपर रहते ही वहाॅ से खिसक जाना उचित समझा—'माता जी, अब मैं जाती हूँ।'

'अच्छा !'

वह चली गई। साथ में पत्र भी लेती गई। राजेश्वर माँ की उपस्थिति के कारण संकोचवश कुछ कह भी न सका।

घर पहुँच कर डाक्टर साहब की पत्नी ने पत्र पढ़ा—वह कुमारी का पटना से भेजा हुआ था। नारी में इतनी क्षमता कहाँ कि वह किसी बात को किसी निश्चित समय तक अपने हृदय में छिपा कर रख सके? बात एक नवयुवती के सम्बन्ध की थी और एक नारी, दूसरे नारीहृदय की अनुभूतियों को भली भाँति समझ सकती है। इसी कारण नारी के नाते वह कुमारी के पत्र की बात केवल दो दिन तक डाक्टर वर्मा से छिपाये रह सकीं। तीसरे दिन कुमारी का पत्र उसने पति को दे दिया। डाक्टर साहब ने पत्र पढ़ा, तो आपे से बाहर हो गये। राजेश्वर के परिवार से प्रतिकार का विचार अमिट हो गया।

कई दिन बीत गये। डाक्टर साहब और उनकी पत्नी के हृदय में द्वेष की आग सुलग चुकी थी; पर उन्होंने बातचीत अथवा हाव-भाव द्वारा उसका कोई लक्षण प्रकट न होने दिया।

अचानक ही राजेश्वर के पिता की तबियत कुछ खराब हो गई। डाक्टर वर्मा का इलाज शुरू हुआ। मामूली जुकाम था; दो-चार दिन में ठीक हो गया। लेकिन कुछ दिनों पश्चात् वे मोतीझरा से फिर बीमार पड़े। दवाई के साथ बहुत थोड़ी मात्रा में डाक्टर वर्मा ने मरीज को जहर दे दिया। कई दिन बीत गये। रोगी केवल हड्डियों का एक ढाँचा रह गया। राजेश्वर ने जब पिता की तबियत अच्छी होती न देखी, तो डा० वर्मा की दवाई बन्द कर, एक दूसरे डाक्टर को बुलाया। पहली दफा निरीक्षण करते ही डाक्टर

ने अपनी सम्मति दे दी—'रोगी की अवस्था सुधरने के लक्षण दृष्टिगोचर नही होते।'

'डाक्टर साहब, क्या कोई उपाय नहीं जिससे पिता जी स्वस्थ हो सकें?'

'आशा नही है, इनके शरीर में विष की मात्रा का प्रवेश हो चुका है।'

'विष!' राजेश्वर भौंचक्का-सा रह गया। 'यह घृणित कार्य डा० वर्मा का ही हो सकता है। छिः छिः, मानव-जीवन इतना सुलभ नहीं कि कुछ छोटी-मोटी बातों के लिए ही हम उसे नष्ट करने पर उतारू हो जायँ।'

रात्रि के दूसरे पहर का घोर अन्धकार सायँ-सायँ कर रहा था। मृत्यु अपनी सवारी लेकर आ पहुँची। राजेश्वर अथवा उसके परिवार का अन्य कोई भी उस रोगी को जाने से न रोक सका। आज पिता की छत्रच्छाया राजेश्वर पर से उठ गई। अब उसे दुनिया को समझना होगा।

पिता की मृत्यु ने राजेश्वर के हृदय में संसार के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न कर दिया। संसार के प्रति उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आया। घर पर धन की कमी न थी। वह सोचने लगा, ऐसा कौन-सा कार्य होगा, जो मानव को यथार्थ में मानव बना सके, उसे आदर्श पथ का अनुसरण कराये। बहुत माथा-पच्ची करने पर उसने 'सेवाश्रम' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य जन-साधारण के हितार्थ-कार्य कर, सेवा द्वारा उसे उत्थान की ओर ले जाना था।

× × ×

उन दिनों बनारस में मेला लगा हुआ था। लाखों की भीड़ थी। 'सेवाश्रम' के संस्थापक भी अपने स्वयंसेवकों के साथ मेले में उपस्थित थे। हिन्दू मुस्लिम दंगा हो गया। सारे मेले में एक तहलका मच गया। लोगों ने तितर-बितर हो, इधर-उधर भागना शुरू किया। उस भगदड़ में कुमारी का साथ अपने पिता से छूट गया। वह भटक गई।...कहाँ जाय, क्या करे? आँखों से बरबस आँसू छलक आये। पिता की खोज में इधर-उधर भटकते रहने के पश्चात् एक स्वयं-सेवक से अपने गुम हो जाने की बात कही। स्वयं-सेवक ने उसे सान्त्वना दी और तुरन्त ही सेवाश्रम के आफिस में पहुँचा दिया। द्वार पर पहुँच, राजेश्वर को सामने देख, वह ठिठक गई। राजेश्वर ने भी उसे देखा, पर सहसा विश्वास न हुआ। दूसरे ही क्षण उसने निश्चय कर लिया कि कुमारी उसकी प्रेयसी के अतिरिक्त अन्य कोई न थी। झट उठ कर उसका स्वागत किया—'कुमारी तुम कहाँ?' कुमारी के हृदय में सुख और दुख का द्वन्द्व हो रहा था—परिवार से बिछुड़ने का दुख और प्रियतम से मिलने का हर्ष।

उस भगदड़ में भागते-भागते करीब आध मील दूर निकल आने पर कुमारी के पिता को लड़की के खो जाने का ज्ञान हुआ। वे घबड़ा उठे। उसे ढूँढ़ने के लिये पैर मोड़ने ही वाले थे कि पीछे से किसी ने सिर पर एक डण्डा दे मारा। खून की धार बह निकली ऐसी स्थिति में लड़की को मेले में ढूँढ़ना, मौत को प्रत्यक्ष बुलाना था। आखिर हताश मन, घर लौट आये।

चार दिन बीत गये। कुमारी का कोई समाचार प्राप्त न हुआ। पुत्री-वियोग के दुख से माता-पिता दोनों पागल-से हो रहे थे।

दुख-विह्वल पिता ने खाट पकड़ ली।

कुमारी के खो जाने की सूचना अखबारों में छपवा दी गई और उसका पता लगाकर सुरक्षित भेजने वाले को एक सौ एक रुपया इनाम भी देने का वचन दिया गया।

सेवाश्रम सम्बन्धी कार्य के आधिक्य के कारण एक सप्ताह तक राजेश्वर को बिल्कुल समय न मिला। आठवे दिन वह कुमारी के साथ उसके पिता के घर जा पहुँचा। पुत्री को पुनः पाकर माता-पिता के हर्ष की सीमा न रही।

कुमारी के पिता राजेश्वर को बचपन से भली-भाँति जानते थे। पुत्री के प्रति किये गये सुव्यवहार ने उनके हृदय मे उसके लिये एक विशेष स्थान बना लिया। अब वह उनकी श्रद्धा का पात्र था। ऐसी अवस्था में उनका इस विचार में डूब जाना स्वाभाविक था कि किस प्रकार कृतज्ञता प्रकट की जाय? वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि रुपया-पैसा हाथ का मैल है और धन मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। इस कारण कोई ऐसी वस्तु पुरस्कार में क्यो न दी जाय जिसका जीवन में कुछ मूल्य हो।

अक्सर देखा गया है कि जब बीमार मनुष्य को एकाएक अत्यधिक हर्ष हो जाता है, तो उसके हृदय की गति बन्द हो जाने का प्रतिक्षण अन्देशा बना रहता है।

सुबह का झुटपुटा हो चला था। प्रातःकाल का मन्द पवन अठखेलियाँ कर रहा था। चन्द्र की ज्योति क्षीण हो गई थी। तारे पीले पड़ते जा रहे थे। पूर्व दिशा से एक रंगीन ज्योति अपना अंचल बिछाती आ रही थी। पिता के पलंग पर कुमारी बैठी थी, फर्श पर उसकी माँ और पास ही कुरसी पर राजेश्वर। पिता को

साँस लेने में तकलीफ होने लगी। उन्होंने कुमारी का हाथ राजेश्वर के हाथ में देते हुए कहा, 'बेटा, कुमारी को...मैं...तुम्हें...सौंपता हूँ। यही तुम्हारा...इनाम।' कहते हुये उन्होंने आखिरी बार साँस ली और साथ ही इस जीवन से विदा। कुमारी ने इच्छित देवता पाया; राजेश्वर ने पिता के जीवन का मूल्य और अपना जीवन-साथी। नीचे जीवन-पथ की रेखा बताती हुई विरक्तमना वसुन्धरा थी और ऊपर अनन्त नीलाकाश मानों नव-मिलन का अभिनन्दन कर रहा था।

वह प्रतिमा

'क्या वह फिर कभी दिखाई देगी?'

'कौन?'

'वही जिसकी प्रतिमा मेरे हृदय-मन्दिर में है और जिसको पाने के लिए मैं रो रहा हूँ और जीवन भर रोऊँगा।'

'सुनूँ भी तो, कौन थी वह?'

'वह थी फूल के सदृश्य कोमल, शुद्ध; चन्द्रमा-सी शीत-प्रकृति और तेजोमयी।'

'तो कहाँ चली गई वह?'

'उँह, चली गई अपने घर और कहाँ! मुझे जीवन-पथ पर अकेला छोड़कर, सदा के लिए स्मृति का पर्दा मेरे और अपने बीच डालकर।'

'जब मैंने पहली ही बार देखा, उसकी भोली सूरत आँखों के रास्ते दिल में उतर गई थी। मैंने उससे कहा था—सुनो।'

उसने मुस्कराहट भरी चितवन से कह दिया था—'हटो!'

क्या मैं उस चितवन को कभी भूल सकता हूँ? नहीं, कभी नहीं। जब तक इस नश्वर शरीर में प्राण हैं वह भुलाई नहीं जा सकती। मर जाने की कौन जाने?

किन घड़ियों में उसने प्रयाग में प्रवेश किया था। ओह! कितनी सुन्दर और सुखद थीं वे घड़ियाँ! क्या वे क्षण फिर लौटेंगे? नहीं, अब तो आशा नहीं। और उनसे भी सुन्दर थी वह घड़ी जब मुझे ज्ञात हुआ था कि वह प्रेम करती है मुझे और मैं उसे। उसके दर्शनों को मैं अपना अहोभाग्य समझता था।

लो! वह सामने की खिड़की खुली! मोहनी सूरत सामने थी। साड़ी थी लाल। कमर पर काले केशों की दो चोटियाँ नागिन सी बल खा खा कर, लहरा रही थीं। कानों में थे ईयर-रिंग्स। वह थी अपनी दाँतों की शोभा से चन्द्रमा के प्रकाश को भी चुराने वाली। क्या कभी फिर उसकी बड़ी-बड़ी रसीली आँखों की कनखियाँ देखने को मिलेंगी?

नहीं अब तो वह एक कल्पना है—एक सपना है।

कितने नेत्र उस हीर-कनी को पाने के लिए तरस रहे थे। परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने केवल मेरी ही ओर जीवन में स्नेह से देखा था और मैंने उसकी ओर। मेरे पास अब भी आँखे हैं और तब भी थी। परन्तु अब दुनियाँ की सारी चीजे देखता हूँ केवल उसे ही नहीं। क्या करुणा-निधान तुमने वह शक्ति मुझसे छीन ली?

उस दिन संध्या को खिड़की बन्द हो गई। मेरा दिल डूब गया। रात्रि ज्यों त्यों करके बिताई। सुबह हुई। उसके दर्शनों की आशा-लड़ी जोड़ने लगा; परन्तु मैं ज्यों ज्यों उसे जोड़ने का प्रयास करता था त्यों त्यों वह टूटती जाती थी। दस बज चुका, उस भोली सूरत के दर्शन न हुए। चिन्ता हुई—'कहाँ चली गई, वह ?'

किसी ने कहा—'लखनऊ।'

'तो कब तक लौटेगी ?'

'कल।'

'सुबह या शाम को ?'

खैर, कल्पना कर ली, सुबह की गाड़ी से अवश्य लौट आवेगी। मेरे मुख पर आनन्द की एक रेखा दौड़ गई।

जाड़े की रात्रि थी। नींद खुली। सहसा ख्याल आया—लो ! वह आ गई।

बिस्तर पर से झट उठा। दरवाजा खोला। परन्तु, ऐ काली रात ! तू वियोगियों को प्रलय के समान है। कुछ दिखाई न दिया। मेरे रहने के स्थान और उसके स्थान में लगभग तीस गज का अन्तर था। मेरी और उसकी छतें सम्बन्धित थीं। दौड़ा दौड़ा छत पर गया। उसके आँगन में चहल पहल न थी। इतने में घड़ी ने टन् टन् कर दो बजाया। ख्याल आया, अभी तो दो बजा है। क्या मैं पागल हो गया हूँ? सोने का समय है और मैं चहल-पहल की आशा के पुल बाँध रहा हूँ। फिर कमरे में लौट आया और बिस्तर पर पड़ रहा।

किसी तरह सुबह का आठ बजा। अपने आँगन में खड़ी थी,

स्लेटी रंग की साड़ी और आसमानी ब्लाउज में लिपटी हुई, वही चन्द्रमुखी। हर्षातिरेक से मेरा मन नाच उठा। उत्कंठा हुई, हम दोनों और पास होते; परन्तु फिर ख्याल आया हमारे और उसके बीच है सामाजिक-बन्धन। मानव आशा के पुल बाँधता है। वह एक ओर जाना चाहता है, पर विधि उसे खींचकर दूसरी ओर ले जाता है। सोचा था मैंने, हम दोनों जीवन-साथी बन सुख-दुःख का निमन्त्रण स्वीकार करेंगे, पर आशा और आकांक्षा की कमजोर टहनी टूट कर गिर गई।

उस दिन मैंने उसे कबूतर का एक बच्चा पकड़कर दिखलाया था। पूछा था—'चाहिए ?' उसने अपना कोमल हाथ हिला कर अस्वीकृति दे दी थी। क्या वह एक इशारा कभी भूला जा सकता है ? इतनी थी वह सावधान ! जब कभी असमय में, कमरे मे खड़े होकर देखता था उसे और उसकी 'उन' आसपास ही कहीं होतीं तो वह हाथ हिलाकर हट जाने का इशारा कर देती। न मालूम वे 'उन' उसकी कौन थीं ?

उस दिन न जाने कितने फूल उसने और मैंने तोड़े। एक दूसरे की ओर फेंके और भेंट किये। पर अब प्रकृति के उन कोमल बच्चों को तोड़ने के लिए हाथ ही नहीं उठता।

वह दिन उसके दर्शन का आखिरी दिन था। कितना वेदना-पूर्ण ! सारे दिन खिड़की खुली रही। किसी न किसी बहाने वह फिर फिर आती थी—शायद जलते हृदय के कुछ उद्गार उगलने के लिए; पर अफसोस, मैं उन्हें सुन न सका। कारण वही, सामाजिक-बन्धन।

शाम हो गई। काली रात ने अपनी चादर पृथ्वी पर फैला

दी। शायद इसीलिए न कि मैं न देख सकूँ उसे और वह······।
उस रात को बजे थे नौ। वह खड़ी थी खिड़की पर। कहा था मैंने उससे, तुम्हारी यह भोली सूरत, तुम्हारे यह हाव-भाव भुलाये न जा सकेंगे। पूछा था मैंने उससे, क्या तुम भूल जाओगी मुझे? धीरे से आवाज आयी थी 'न भूलूँगी।' कितना प्यारा था वह अधूरा वाक्य। वह था तिनके सा पतला और ख्याल सा नाजुक। फिर मैंने अन्तिम नमस्ते और शायद अन्तिम बिदा···।

लेकिन ग्यारह बज गये। मैं खड़ा था अपने दरवाजे पर और वह आँगन में रसोई घर के सामने। प्रकाश था दोनों किनारों पर और था बीच में रात्रि का काला पर्दा। हम दोनों देख सकते थे एक दूसरे को, पर उस दर्शन में निहित थी वियोग की वेदना—दो प्रेमी-हृदयों का करुण-क्रन्दन। हमारी आँखें शायद एक दूसरे के दर्शन का अन्तिम बार पान कर रही थीं कि इतने में आ गईं उसकी 'उन'। सहसा हम दोनों को हट जाना पड़ा। उस रात्रि के बाद मैंने उसे कभी नहीं देखा।

यदि उसे प्रेम करने और उसे स्थिर रख, परिणाम भुगतने का साहस न था तो क्यों उसने मेरे स्वच्छन्द उड़नेवाले हृदय को स्नेह की रेशमी डोर से जकड़ लिया था? अपनी आँखों के इशारे से क्यों इस मरुभूमि में अमृतधारा बहाने का बचन दिया था? मदिरा से छलकते अपनी आँखों के प्याले क्यों पिलाये थे? प्रेम-नशा गहरा हो चुका है, उतरना मुश्किल है। वह चली गई मेरे जीवन में पत्थर की एक लकीर खींचकर जो किसी के मिटाने की नहीं।

मानव! सोचो तो···आत्मविस्मरण जीवन में ये घड़ियाँ

कितनी आनन्ददायिनी होती हैं ! मन एक निराली ही दुनिया में भ्रमण करने लगता है। संसार को ये आँखे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं। जीवन का वास्तविक सुख अपनी उपास्या के सहवास में, उसकी दो दो बातों में ही प्रतीत होने लगता है।

× × ×

साल भर बीत गया परन्तु उसकी याद आते ही कल्पना-चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाता है। वही चित्र—वही विचार। वह शान्ति की मूर्त्ति थी, और थी प्रेम की प्रतिमा और सौन्दर्य की सजीव आभा। वह तेजोमयी रूप थी। संसार के लिए अन्धकार-मय थी, किन्तु मेरे हृदय की वह ज्योति थी। दुनियाँ की नजरों में उसका मूल्य अधिक न था, पर मेरे हृदय की वह निधि थी।

ओह ! कितना अपूर्व लावण्य ! कितनी दिव्य श्री—शारदीय ज्योत्स्ना से अधिक शुभ्र। गुलाबी कोमल कोमल कपोल! नीलिमा-चित्रित अनोखी चितवन भरी आँखे !! वह भ्रमर-माल सदृश केश-राशि; पतले ओंठ, विहँसित आँखे, उन्मादक सुहावनी छवि ! न जाने उसमें क्या जादू था ? कहाँ का अमिय रस छलका पड़ रहा था ! किस स्वर्गीय श्री की कान्ति उसके आनन पर विराजमान थी ?

मैं अपूर्व सौन्दर्य के अद्‌भुत आकर्षण में एकदम बह गया था। किन्तु अब जलतरङ्ग की भाँति जीवन का स्नेह-स्रोत प्रेम का गम्भीर पयोधि एकदम सूख कर मरुस्थल बन गया है। हृदय खून के आँसू बहा बहा कर अदृश्य रूप में रोता है। इस दुनियाँ मे प्रेम-वियोगी के लिए क्या सुख है ? उस सुख-साधन की परम-निधि तो एकदम मृत्यु है। ऐ मृत्यु ! आ, मैं तेरा स्वागत

करता हूँ। इस अधूरी प्रेममयी निराशा से प्रताड़ित जीवन का अन्त करके आन्तरिक व्यथा को मिटा, शान्ति प्रदान कर। संसार एक उजाड़ जंगल हो गया है। मृत्यु ही केवल सुख-शय्या है।

संसार कह उठता है—लो वह आ गई—वही चिर परिचित प्रतिमा—बङ्गाली बाला जिसे लोग 'बुलबुल' कहते थे।

उत्सर्ग

'भाभी, अभी तक दिनेश बाबू का कोई पत्र नहीं आया। क्या इस बार दिवाली पर यहाँ न आवेंगे?'—अंजली ने मुस्कराते हुए पूछा।

'खूब लल्ली खूब, तुम भी कैसी बातें करती हो? मेरा भैय्या और न आये। वह अवश्य आयेगा।'

'बड़ी भैय्या वाली बनती हो। मैं भी देखूँगी किस बिना पर तुम फूली नहीं समाती हो? इस बार दिनेश बाबू आ जायँ तो बात हार जाऊँ।'

सरोज ने मन में तो कुछ खिन्नता का अनुभव किया लेकिन हृदय को मजबूत करते हुए उत्तर दिया 'घबड़ाओ मत लल्ली, समय शीघ्र ही सब विदित करा देगा। फिर मेरा भाई आये या न आये, इसकी तुम्हें क्यों चिन्ता? क्या कुछ......?'

अँजली झुँझलाकर बोल उठी 'देखो भाभी, ऐसा कहोगी तो ठीक न होगा।'

'बाबूजी, चिट्ठी'—बाहर से पोस्टमैन ने आवाज दी। सरोज का हृदय-कमल खिल गया। आशा-भरे नेत्रों से जा, बैठक में पड़े पत्र को उसने उठाया। जैसे ही पत्र खोलकर पढ़ना शुरू किया, अँजली ने ताना कसा—'हे भगवान्! ढाई रुपये का प्रसाद चढ़ाऊँ यदि लिखा हो कि इस वर्ष न आ सकूँगा।' लेकिन पत्र पढ़ते ही सरोज की बाँछे खिल गईं और वह मानों कमरे मे नाचने लगी। उसने हँसते हुए कहा—'लल्ली, तू अपना ढाई रुपया रख छोड़। तेरी शादी में काम आयेगा। भगवान तेरे प्रसाद के भूखे नही हैं।'

'मुझे नही चरा सकती, भाभी। अपनी यह पट्टेबाजी किसी, और को जाकर पढ़ाना। मै इस गीदड़ भभकी में नही आने की।' 'अच्छा ले, तू ही देख ले, लल्ली। तुझे तो मेरी किसी बात का विश्वास ही नहीं होता। देख, आने को लिखा है कि नहीं……' पत्र अँजली की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा।

अँजली पत्र पढ़कर स्तम्भित रह गई। सचमुच ही दिनेश बाबू आ रहे थे।

× × ×

दीपावली की शाम आकाश से जगमग-जगमग करती उतरी। दिनेश और रमेश का आगमन सरोज के हृदय में आनन्द की ज्योति जगाये आया।

भैय्या दुइज का भोर कितना सुखद! आज बहनों की वर्ष भर से पाली-पोसी और सींची आशालताएँ फूले फलेंगी। सरोज सुबह नौ बजते-बजते निवृत्त हो गई। उसने अपनी सर्वप्रिय साड़ी पहनी थी। भाई के कलेवे के लिए उम्दा से उम्दा मिठाई,

नमकीन व अन्य चीजें जो बाजार में प्राप्त हो सकीं, थाली में सजाकर उपस्थित हुई तथा नौकर को, दिनेश को बुला लाने भेजा।

दिनेश आ पहुँचा लेकिन उसके साथ रमेश भी था। प्रथम सरोज उसे देखकर हिचकी परन्तु अतीत को टटोलने पर विदित हुआ कि वह दिनेश के अन्तरंग मित्रों में से था। दोनों पीढ़े पर आ, बैठ गए। पहले सरोज ने दिनेश के मस्तक में रोली का टीका लगाया और भाई का इशारा रमेश की ओर पाकर उसे भी टीका लगाया। तत्पश्चात् उपहार में लाई हुई सामग्री प्रस्तुत की तथा मन-ही-मन भगवान से प्रार्थना की कि बहिन और भाई के स्नेह की यह माला कभी न टूटे। दिनेश और रमेश दोनों ही ने अपनी लाई हुई वस्तुएँ बहिन को भेंट कर चरण स्पर्श किये।

× × ×

आज सरोज अत्यन्त उदास बैठी थी। दिन का दस बज चुका, लेकिन उसने न तो नहाया धोया ही और न घर के किसी काम में ही हाथ लगाया। रह-रहकर उसे भाई दिनेश की याद आ रही थी। घर से पढ़ने गये एक महीना हो गया लेकिन कुशल-क्षेम का कोई पत्र नहीं आया।

इधर देश में लड़ाई छिड़ गई। शत्रुओं ने हमला कर दिया। देश के हर नौजवान ने जान हथेली पर रख, फौज में नाम लिखाना शुरू कर दिया। माताओं और बहनों ने अपनी सेवाएँ देश के हितार्थ रक्खी। आखिर आजादी तो सभी को प्यारी थी तथा आजादी की इच्छा करना या उसे पाने के लिए प्रयत्न करना कोई पाप नहीं। पिंजड़े में बन्द पक्षी भी आजादी चाहता है तब मनुष्य ही क्यों परतन्त्र रहे?

दिन प्रतिदिन निकलनेवाले अखबार लड़ाई के मोर्चे पर होनेवाले बलिदानों की चर्चा से भरे होते। सरोज का जी उन्हें पढ़कर और भी उद्विग्न होता जाता। उसने भी अपनी सेवाएँ देश के समक्ष रक्खीं। युद्ध-क्षेत्र मे खून की नदियाँ बह रही थी। बलिदान की वेदी रक्त-रंजित हो चुकी थी। हर नवयुवक खून से खून मिलाने को उद्यत दीख पड़ता था।

× × ×

बहनों के हृदयों मे सुख की लहर जगाती दीपावली पुनः आ गई और फिर भैय्या दोयज, लेकिन सरोज के लिए कोई आकर्षण नही। उसके लिए दोयज ग़म का पैगाम लिये आई। दोयज की सुबह को जब हर घर में बहने सुख और आनन्द के झूले झूल रही थीं, सरोज के मुख और घर दोनों ही पर मुर्दनी छाई हुई थी। अभी तक दिनेश का कोई समाचार न मिला था।

वह मुँह ढके कमरे में पड़ी थी कि इतने में लच्छी ने बाहर से आकर खबर दी 'मालकिन, उठती नहीं, पाहुने आये हैं।' सरोज हड़बड़ा कर उठ बैठी—'पाहुने ! कौन पाहुने ?'

'वही जो पारसाल दीवाली पर दिनेश बाबू के साथ आये थे।

'हैं ! कौन, रमेश भैय्या ?'

'नाम तो मै जानती नहीं, मालकिन।'

'हाँ वही होंगे।'

सरोज दिनेश के सम्बन्ध में जानने के लिए अत्यधिक व्यग्र हो उठी और उसने लच्छी द्वारा तुरन्त रमेश बाबू को बुलवाया।

जैसे ही रमेश ने कमरे मे प्रवेश किया कि उसने पूछा—'दिनेश भैय्या कैसे हैं ?'

'अच्छे हैं।'

'आये क्यों नहीं?'

'कोई आवश्यक काम था। मुझे भेजा है।'

'अच्छा!' इसके अतिरिक्त सरोज ने कुछ न पूछा। रमेश उठ कर बाहर बैठक में चला गया और सरोज ने तुरन्त भैय्या दोयज की तैयारी शुरू कर दी।

× × ×

वह रमेश का टीका कर रही थी। उसके हर्ष की सीमा न थी। भैय्या दोयज की रस्म अदा हो चुकने के पश्चात् घर के सम्बन्ध में इधर-उधर के प्रश्न पूछने लगी। इसी बीच रमेश ने बताया—'बहिन, क्षमा करना मैं झूठ कह गया। दिनेश भैय्या·····।' कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू आ गये। सरोज के मुँह पर स्याही छा गई। उसने अत्यन्त आकुल हो प्रश्न किया—'क्या कह रहे हो, भैय्या, यह कैसे?'

'लड़ाई के मैदान में; अपने देश की आजादी की सुरक्षा में।'

'आजादी की सुरक्षा में!'—उसका मुख-कमल खिल गया। 'यह तो देश के प्रत्येक नौनिहाल का कर्त्तव्य है। क्या कभी किसी विजेता ने विजित देश को सुखी भी रक्खा? जीवन उत्सर्ग कर ही आजादी मोल ली गई।'

प्रतिशोध—

रेखा और सुरेन्द्र की शादी हुए चार वर्ष बीत गये। रेखा ने एक पुत्र को जन्म दिया। सुरेन्द्र इस समय चालीस रुपये पर क्लर्क था। चैन से जीवन के दिन बीतने लगे। छोटा भाई वीरेन्द्र अब तेरह वर्ष का हो चुका था। रेखा के हृदय में उसके प्रति धीरे धीरे द्वेषभाव जागृत होने लगा। स्त्री के साथ ही सुरेन्द्र की प्रकृति भी बदल गई। वही वीरेन्द्र जो पहले उसे अत्यन्त प्यारा था अब क्षण भर न भाता। स्त्री-पुरुष दोनों ही उसे दुत्कारने लगे। वह बेचारा कुछ न समझ पाता। सोचता 'क्या दुनिया की यही रीति है! मनुष्य-मात्र आपस में एक दूसरे का अनिष्ट चाहता है।'

कुछ दिनों तक तो वह सब सहता रहा परन्तु अधिक तकलीफों का सामना करने की हिम्मत न समझ, वह झुँझला कर घर छोड़ चल दिया। चल तो दिया पर पता न था...क्या करे......कहाँ जाय? तेरह वर्ष की अवस्था ही कितनी! दुनियाँ का उसे अनुभव न था। हताश मन स्टेशन की ओर चला। स्टेशन पहुँचा पर जेब में टिकट के लिए पैसे न थे। गाड़ी चलने का समय जान चोर की नाई एक डिब्बे में घुस गया। गाड़ी चल दी। वीरेन्द्र इतना जानता था कि गाड़ी झाँसी जा रही थी। जिस तरह चोरी के पश्चात्, चोर का दिल धड़कता है उसी प्रकार वीरेन्द्र भी घबड़ा रहा था।

गाड़ी कई स्टेशन पार कर गई। एक स्टेशन पर एक रेलवे कर्मचारी डिब्बे में दाखिल हुआ। सब लोगों का टिकट देखा।

वीरेन्द्र से भी पूछा···'टिकट ?' वह घबड़ा कर चुप रहा। उसने फिर कहा···'टिकट कहाँ है ?' वीरेन्द्र ने दबे स्वर में उत्तर दिया··'नहीं है।' इतना सुनते ही उसने अँग्रेजी में गालियाँ देना शुरू कीं। वीरेन्द्र सब सुनता रहा। इतने में स्टेशन आ गया। गाड़ी रुक गई। रेलवे कर्मचारी ने उसका हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया।

शाम हो चुकी थी। इस कारण उसने बस्ती के अन्दर जाना उचित न समझा और मुसाफिर-खाने के ही एक कोने में बगैर कुछ खाये पिये पड़ रहा। किसी तरह रात कटी; सबेरा हुआ। वह उठकर बस्ती की ओर चला। भूख बड़े जोर से लग रही थी। बस्ती की सड़कों पर लोग आ जा रहे थे। वह एक जगह खड़ा हो गया। जो कोई निकलता उसीसे वह पैसे की याचना करता। करीब आध घंटे तक वह यों ही माँगता रहा। बहुत से लोग आये, चले गये। किसी ने कुछ न दिया। इतने में एक महाशय उसके पास आ, साइकिल से उतर पड़े। वीरेन्द्र उसी तरह पैसे की रट लगाये था। उसे देखकर वे दंग रह गये। एक लड़का जो स्वच्छ कपडे पहिने है, भिक्षा माँग रहा है। पोशाक से तो यह नहीं जान पड़ता कि वह सचमुच गरीब हो।

उत्कंठावश उन्होंने पूछा······'बेटा तुम्हारा घर कहाँ है ?'

'मैं कानपुर का रहनेवाला हूँ।'

'तो यहाँ कैसे चले आये ?'

वीरेन्द्र की आँखों से आँसू निकल आये, गला रुँध गया। बोल न निकल सका। महाशय जी के बहुत धीरज बँधाने पर उसने धीमी आवाज से कहा·· ···'मेरे भाई और भाभी ने मुझे

बहुत तकलीफ दी। यहाँ तक कि अन्त में मुझे घर छोड़ देना पड़ा। बड़ी भूख लगी है।'

महाशयजी को दया आ गई। उसे साइकिल पर बिठाकर घर ले गये। खाना इत्यादि खिलाया। उनके कोई सन्तान न थी, इस कारण उसे अपने ही घर रख लिया। पढ़ाई इत्यादि का सारा खर्च वही देने लगे। वीरेन्द्र ने सुअवसर पाया। खूब मन लगाकर पढ़ने लगा।

× × ×

अब उसने मैट्रिक पास कर लिया था। आगे की पढ़ाई के लिए वह प्रयाग भेजा गया। यहाँ रहकर उसने विश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की और लौटकर घर गया। उसकी शादी की बातचीत भी होने लगी। परन्तु वीरेन्द्र ने अभी शादी करना मंजूर न किया।

एक दिन महाशयजी ने उससे पूछा······'क्यों बेटा, ऐसे एकाकीपन से कब तक जिन्दगी व्यतीत करोगे? दुनिया में दाम्पत्य-जीवन भी अपना एक निजी महत्व रखता है।'

'बाबूजी यह तो आप ठीक कहते हैं किन्तु मेरी बात से भी आप अवश्य सहमत होंगे। नारी एक पहेली है। विवाह एक जुआ है पर उसे प्रयत्न कर एक कला में भी परिवर्तित किया जा सकता है। इस जुए में सम्मिलत होने के पूर्व जबतक मैं अपने दाँव को ऐसा न बना लूँ जिससे कि मै उसे कला बनाने में सफल हो सकूँ तबतक मैं नहीं चाहता कि एक निर्दोष बालिका के जीवन का काँटा बनूँ।'

संसार में हर रोज न जाने कितने विवाह होते जाते हैं!

क्या सभी इस विचार को सामने रखकर ही किये जाते हैं ?'

'मुझे इससे मतलब नहीं। मेरे अनुसार इस विचार को विवाह से पूर्व सामने रखना उचित है और जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध विवाह होते हैं उनका परिणाम यह होता है कि उनके लिए गृहस्थ जीवन एक भार हो जाता है। विवाह केवल भोग-विलास और निजी सुख के लिए ठीक नहीं। माना, यौवन आकांक्षा, अभिलाषा और उमंग का स्रोत है परन्तु इस स्रोत के प्रवाह में बह जाना उचित नहीं।'

'जब यौवन में जिन्दगी का सुख न उठाया तो और कौन-सा समय आवेगा!'

'सुख उठाने का समय यही है लेकिन हमें उस सुख की पूर्ति के लिए समाज और धर्म से अनुमोदित साथी चाहिए क्योंकि विवाह एक धार्मिक और सामाजिक महत्व का कार्य है।'

'तुम्हारा यह कहना ठीक है। परन्तु क्या तुम इतना ज्ञान प्राप्त कर भी अपने को इस योग्य न बना सके कि तुम एक नारी का भार सँभाल, उसे सुखी कर सको ?'

'नही, अभी मेरे कन्धे उस भार को सँभालने में समर्थ नहीं। केवल ज्ञान से कुछ नही होता। गृहस्थ-जीवन में धन की महान् आवश्यकता है और जबतक मैं अपने को उस योग्य न बना लूँ तबतक मै वैवाहिक-जीवन से अलग रहना चाहता हूँ।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

× × ×

दिन ढलते गये। वीरेन्द्र के जीवन में सफलता के चिन्ह दिखलाई पड़ने लगे। वह एक हाई स्कूल में शिक्षक नियुक्त कर

दिया गया। जीवन में सुख की एक लहर दौड़ गई। मेघाच्छादित आकाश मे सितारे टिमटिमाने लगे। उसकी यौवनावस्था की आकांक्षाएँ, अभिलाषाएँ और उमंगे जो अभी तक सुषुप्त थी, जाग उठीं। मन एक साथी ढूँढ़ने लगा। जीवन में कुछ अभाव महसूस हुआ और उस अभाव की पूर्ति के लिए अनेक अस्पष्ट भावनाओं का दौर-दौरा मच गया। किसी के सपने आने लगे।

इस समय फिर से महाशय जी के विवाह की चर्चा करने पर उसने सहर्ष प्रणय-बन्धन में बँधना स्वीकार कर लिया। विवाह भी ठीक हो गया। मित्रों व स्नेहियो में निमन्त्रण-पत्र भी बँट चुके। इस समय वीरेन्द्र के दिमाग मे एक समस्या ने जन्म लिया। अब तक वह अपने भाई को भूल चुका था। परन्तु आज सहसा उसकी याद आ गई। उसके मस्तिष्क मे शङ्का होने लगी 'यदि मै उन्हें निमन्त्रण भेजूँ तो क्या वे आना स्वीकार करेंगे ....?' उसका अन्तःकरण इस बात के लिए प्रेरित करने लगा कि निमन्त्रण देना आवश्यक है, आना न आना उनकी मर्जी। उन्होंने उसके प्रति यदि कटु व्यवहार किया तो वह केवल अपने अज्ञान के वशीभूत होकर। निदान उसने भाई के नाम पत्र लिखा......

'श्रद्धेय वन्धुवर,

अब मेरे जीवन का वह पुण्य पर्व आ पहुँचा जिसकी मै बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। उस पर्व के मंगल-महोत्सव का दिन समीप है। मैं जीवन-सागर में डुबकी लगाने जा रहा हूँ। मुझे जीवन की पूर्णता के, प्रेम के प्रवेश-द्वार में पैर रखना है परन्तु डर लगता है। जीवन स्वच्छन्द रहकर कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसकी पूर्णता का मार्ग आत्म-बन्धन में से है और

इसी कारण मुझे यह आत्म-बन्धन स्वीकार करना पड़ रहा है। क्या इस अवसर पर यह दीन, अकिंचन, और स्वार्थी भाई इस बात की आशा करे कि आप यहाँ पधार कर, इस जीवन-खेल में खुलकर खेलने व विजयी होने का, मुझे आर्शीवाद देने का कष्ट उठायेंगे.........?'

ठुकराया—

'वीरेन्द्र'

जब सुरेन्द्र को आफिस में यह पत्र मिला तो वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। आत्मग्लानि का भाव जाग उठा। मन में विचारों का तूफान उमड़ पड़ा......"ओह! फूल सी स्वच्छ और पवित्र आत्मा के प्रति मैंने इतना अन्याय किया। वीरेन्द्र मुझे अभी तक नहीं भूला है। उस समय मुझे क्या हो गया था जब मैंने वह घृणित व्यवहार किया था? वह कुछ सोच न सका। आफिस से छुट्टी पाते ही घर की ओर चल दिया। जो रास्ता नित्य वह आध घंटे में तय कर पाता था वह आज पन्द्रह मिनट में ही तय हो गया। भाई के प्रेमपत्र की खुशी के कारण उसे पैर उठाने में किसी प्रयास की आवश्यकता होती न जान पड़ी।

घर पहुँचते ही उसकी मुद्रा कठोर हो गई। रेखा बैठी खाना बना रही थी। सुरेन्द्र ने भाई का पत्र उसके सामने फेंक दिया। वह उठा, सारा पत्र पढ़ गई, उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। कुछ आँसू अँधेरे में रास्ता टटोलते गुलाबी गालों से ढलते हुए पत्र पर गिर पड़े।

सुरेन्द्र ने पूछा......'ये आँसू क्यों? अब पछताने से क्या होगा? क्या उस समय, जब तुमने अपनी बुद्धि पर पर्दा डाल

दिया था और साथ-ही-साथ मेरी पर भी, तब तुम्हें इसका जरा भी ध्यान न हुआ। सचमुच जीवन एक पहेली है और नारी एक समस्या, जिसका सुलझाना सहल नहीं।'

दूसरे ही दिन सुरेन्द्र तैयारी कर भाई के विवाह मे सम्मिलित होने जा पहुँचा। वह लज्जित था। वीरेन्द्र भाई के आने की खबर पा दोनों बाहें फैला, उसका स्वागत करने दौड़ा। सुरेन्द्र की आन्तरिक पीड़ा अब तक घनीभूत हो चुकी थी और प्रिय बन्धु को सामने देखते ही वह गलकर आँखों से टपकने लगी। वह मूर्तिवत् खड़ा रहा······अपने में ही खोया-सा। उसके सामने विविध प्रकार के चित्र बन और मिट रहे थे।

बुढ़ापे की हाय

'आखिर मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया?'

'पाप नहीं तो क्या पुण्य! कल के छोकरे बहुत बढ़कर बातें न करो। ब्राह्मण समाज की लुटिया डुबो दी। आज तक कोई ऐसा कलंक कुटुम्ब पर न लगा था।'

'लेकिन इसमें हमारी क्या भाँग गई यदि हमने ठाकुरों की बारात में साथ बैठकर पक्का खाना खा लिया? क्या हम रेल पर का पका हुआ खाना अथवा बाजार की मिठाई नहीं खाते?'

'मैं कहता हूँ, चुप रहो। आगे कुछ नहीं सुना चाहता। हट जाओ मेरे सामने से।'—परमेश्वरीदयाल ने गुस्से में भर कर कहा। फिर उन्होंने नन्दकुमार से कहना प्रारम्भ किया

'कहिए पंडितजी मैंने शुरू में ही मना किया था कि श्रीप्रताप को अँग्रेजी मत पढ़ाओ लेकिन तब मानें नहीं, अब नतीजा भुगतो।'

'मेरा लड़का अच्छा या बुरा जैसा भी है, भुगतना तो मुझे ही पड़ेगा।'

'परन्तु हम लोगों से अलग होकर ही यह सब हो सकेगा।'

'अच्छी बात है।'

दूसरे दिन से वे संयुक्त-कुटुम्ब से अलग कर दिये गये। वे दो भाई थे। दूसरे भाई आशाराम को बुलाकर परमेश्वरी दयाल ने कहा—'तुम्हें हम अलग नहीं करना चाहते लेकिन शर्त यह है कि नन्दकुमार से सम्बन्ध-विच्छेद कर दो।'

'सम्बन्ध-विच्छेद ! यह आप क्या कह रहे हैं ?'

'हॉ, हॉ, सम्बन्ध-विच्छेद करना ही पड़ेगा। तुम्हारी अभी दो-दो लड़कियॉ ब्याहने को बैठी हैं।'

'ऊँह ! यह कौन-सी बड़ी बात है। यदि आप लोग सम्मिलित न होंगे तो क्या मेरी लड़कियों की शादी रुक जायगी ? दुनिया में किसी का काम होने से अटक नहीं रहता।'

'परन्तु, खूब सोच लो।'

'सोच लिया; एक आत्मा के दो प्रतीक अलग-अलग हो जायॅ, यह मृत्यु के बाद ही सम्भव होगा।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

आज तक आशाराम ने नन्दकुमार को ही सब कुछ माना था। जो कुछ पैदा किया पाई-पाई उनके हाथ पर रक्खी। कभी भविष्य के सम्बन्ध में सोचा हीं नहीं। उनके दो लड़कियाँ और एक लड़का था तथा बड़े भाई के केवल एक लड़का। कई वर्ष

बीते बड़े भाई की स्त्री मर चुकी थीं। श्रीप्रताप शिक्षा-विभाग में काम कर रहे थे और चचेरा भाई उमेश उन्हीं के साथ रहकर विद्याध्ययन। कुटुम्ब के अन्य परिवारों की दाँता-किट किट से अलग चैन से कट रही थी।

× × ×

आशाराम की दोनों लड़कियों और श्रीप्रताप की शादी हुए कई वर्ष बीत चुके थे। श्रीप्रताप के कई सन्तानें भी हो चुकी थी। परिवार का बढ़ता हुआ खर्च देखकर देवर की ओर से उनकी पत्नी को आँखे भी कुछ फिर चुकी थी। ठीक है, संसार में अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग होना भी चाहिए। लेकिन आशाराम की आँखें अभी भी न खुली थीं।

इधर कुछ दिनों से नन्दकुमार ने घर सिर पर उठा रक्खा था। हर रोज नये-नये झगड़े उठाते रहते थे। इन झगड़ों का अनिष्ट-कारी परिणाम यह हुआ कि उनके बाप ने नदी में कूदकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। आगे किसी अनिष्ट को रोकने के लिए श्रीप्रताप ने उचित समझा कि घर का कोई उचित प्रबन्ध हो जाय जिससे भविष्य में झगड़ों से छुटकारा मिल जाय। इसी विचार को समक्ष रखकर, उन्होंने छोटे भाई उमेश को पत्र लिखा कि मेरे पत्र के आदेशानुसार घर का सब प्रबन्ध कर लो। लेकिन उसे जब पत्र मिला तो समक्ष कठिनाइयों का एक सागर हिलोरें लेने लगा। घर की परिस्थितियाँ इतनी पेचीदा हो चुकी थीं कि जिनका सुलझाना उसके अनुभवहीन मस्तिष्क के लिए सरल न दीख पड़ा। पत्र आये पन्द्रह दिन बीत चुके। उसने मसला हल करने के लिए कोई बात उठा न रक्खी, लेकिन जब सभी चेष्टाएँ

निष्फल हो चुकीं तो विवश होकर भाई को एक पत्र लिखा। मनुष्य जब किसी कार्य में असफल हो जाता है तो उसके समक्ष रंगीनियों से भरी हुई एक धोखेबाज झिलमिली खड़ी होकर पग-पग पर काली रेखाएँ खींचने की कोशिश करती है। उसने भाई को लिखा कि आप स्वयं एक दो दिन के लिए यहाँ आकर जैसा उचित समझें, प्रबन्ध कर जायँ। इस रोग का इलाज मेरे वश का नही।

श्रीप्रताप को पत्र मिलते ही उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—'देखा क्या लिखा है? हमारी तुम्हारी सहायता और सद्व्यवहार का यह उत्तर!'

उमा ने जवाब दिया—'उमेश क्या? संसार का यही कायदा है। काम निकल जाने पर कौन किसे पूछता है?'

'मुझे बुलाया है। यहाँ बच्चे की हालत अच्छी नही, कैसे जाऊँ?'

'उत्तर दे दीजिए, तबीयत ठीक हो जाने पर चले जाइये···।'

सुनो मैंने यह लिख दिया—'······उमेश, तुम से हम लोगों को कभी ऐसी आशा न थी। ऐसा भासित होता है कि घर के लोगों ने तुम्हारे कान भरे हैं और इसी कारण तुम ऐसा लिखने को बाध्य हुए हो। मै भविष्य के लिए कोई वायदा नहीं चाहता। वर्तमान परिस्थिति में तुम जिस तरह का सलूक करोगे उसी के आधार पर हमारा तुम्हारा भविष्य का सम्बन्ध निर्धारित होगा। मैंने चाचा और चाची को बहुत कुछ समझा था लेकिन······!'

उमेश को पत्र मिला! आँखों ने तो क्या बल्कि उसके आँसुओं ने पढ़ा। उसने माँ से कहा—'माँ, तुम और चाचा तो कुछ हीं दिनों के मेहमान हो लेकिन अर्थी पर जाने से पूर्व मेरे गले पर छुरी फेर चले······।' कहते कहते वह सिसकियाँ भरने लगा।

माँ ने जी कड़ा करके उसे शान्त करना चाहा पर उसको आँखों से, बेटे से कई गुना अधिक, शोक का आवेग उमड़ पड़ा और वह केवल इतना ही कह सकी—'क्या बताऊँ···बेटा···बहुत कोशिश···करती हूँ··कि···झगड़ा···न हो, लेकिन ?'

× × ×

श्री प्रताप घर आ पहुँचे। सबने उनका हृदय से स्वागत किया।

सुबह का समय था। आँगन पर पलंग पर ही, सब लोग हाथ-मुँह इत्यादि धोकर बैठे थे। श्रीप्रताप की आँखों से आँसू निकल आये, गला रुँध गया। 'चाचा जी · मुझे आपसे··कभी ऐसी ···आशा···न थी।'

'ठीक है, लेकिन तुम्हारे पिता के सम्बन्ध में भी मैंने न सोचा था कि हमारे साथ इस तरह का सलूक करेंगे। उनका एक एक शब्द हमारे लिए जहर का घूँट होता है। दो वर्ष से, जब से उमेश बी. ए. में दाखिल हुआ, वे हर बात पर फब्तियाँ कसते हैं—'अब तो लड़का पढ़ गया और लड़कियों की शादी हो चुकी !'

'आखिर हम दोनो भाइयों के बीच ईर्ष्या की एक गहरी खाई खोद कर तो आप लोग न जाँय। संसार हँसेगा। जग चाहता है मनुष्य एकाकी रहे, मुसीबत उठाये, उसे तालियाँ पीटने का मौका मिले। शायद कब्र में जाने से पूर्व मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है।'

'भला बताओ, मैं और क्या कर सकता हूँ ? दिन-रात एक करके, दाना-दाना बरहे से इकट्ठा कर, घर में लाता हूँ। चाहता हूँ, शान्ति पूर्वक खाया-पिया जाय लेकिन तुम्हारे पिता की आँखों में यह कुछ नही, मानों मै बेकार बैठे-बैठे खाता हूँ। अब सत्तर वर्ष का हुआ। शरीर में इतना दम नहीं कि जवानी

की उम्र का-सा काम कर सकूँ। समय तो आराम से बैठकर एक रोटी खाने का था लेकिन···?'

इतने में नन्दकुमार जो अबतक चुपचाप बैठे थे, बोल उठे 'अरे निर्लज्ज! शर्म नहीं आती। मैं कौन जवान हूँ जो तुम्हें खिट्टकें कमा कर देता जाऊँ। अपनी जिन्दगी भर की कमाई तेरे इस घर में झोंक दी। अपने कफन तक को एक पैसा नहीं रक्खा और न अपने बहू-बच्चों के लिये ही एक झिंझी बचा सका। अब मुझसे यह न होगा। बुढ़ापे की उम्र, दो पैसे कमाऊँगा। अकेला पेट है, एक खाऊँगा तो भी एक बचेगा जिसे बहू-बच्चों को दूँगा।'

'बुढ़ापे में अधिक हाय अच्छी नहीं होती। जो कुछ ईश्वर दे, आराम से खाया पिया जाय।' आशाराम ने शान्तिभाव से कहा।

'हमने तुम्हारी गृहस्थी बहुत दिन पार कर दी, अब अपना सुझता देखो। तुम और तुम्हारी श्रीमती दोनों ही को विधि ने खूब सँवारा है। एक की भी आँखों में रत्ती भर शील नहीं। किसी का एहसान कभी किसी ने माना ही नहीं।'

'अगर हम मुँह से, एहसान, एहसान—नहीं चिल्लाते फिरते तो कम से कम ईश्वर तो देखता है। फिर तुम लोग हमारे साथ जो एहसान कर रहे हो वह मुफ्त में नहीं। मेरी यह गंजी खोपड़ी जानती है कि कितनी बार अनाज लादकर श्रीप्रतापके पास पहुँचाया है और यह मांसहीन शरीर जानता है कि ठंड की कितनी रातें सिकुड़ कर श्रीप्रताप के आने की इन्तजारी में स्टेशन पर काट दी हैं।'

'श्रीप्रताप जो अब तक मस्तक पर हाथ रक्खे बैठे थे, झुँझला

कर बोल उठे—'खैर, अब तो एक दूसरे का बदला हो चुका। उमेश की पढ़ाई में मैंने भी हजारों रुपये खर्च कर दिये अन्यथा आज मेरे पास भी थैली होती। मेरे सामने भी लड़कियाँ हैं। मुझको भी अब आँखे खोलकर चलना चाहिए। मैंने पिता व चाचा अथवा उमेश और अपने को कभी दो नहीं समझा लेकिन आज सब स्पष्ट होगया।'

'मैंने भी तुमको उमेश से बढ़कर समझा। रह गई एहसान के बदले की बात, सो जब उमेश किसी योग्य होगा तो वह भी तुम्हारी मदद करेगा। मुझे तो उससे इस जिन्दगी में सहायता की कोई आशा नही। ईश्वर करे तुम और वह स्वयं सुखी रहें।'

'मै उमेश से किसी तरह की मदद नहीं चाहता। बात केवल इतनी ही है कि यदि दोनों भाई शामिल रहते तो कही भी रहते, मौके मौके पर एक दूसरे के यहाँ जाकर हँस-बोल खा-पी लेते तथा एक दूसरे के दुःख-दर्द और हँसी-खुशी में हाथ बँटा सकते। लेकिन आप लोगों की जब ऐसी इच्छा नहीं, तो मेरा एक रास्ता होगा और उसका दूसरा। अब आप लोगों की जैसी इच्छा हो वैसा किया जाय। किसी प्रकार रोज-ब-रोज की यह दाँता-किट किट तो मिटे।'

'मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है जैसी तुम्हारी और तुम्हारे पिता जी की राय हो, वैसा करो।'

× × ×

आज झगड़े का निपटारा था। सभी लोग उपस्थित थे। खेती शामिल रही। दोनों फरीक आधा आधा लगान अदा करेंगे। उन खेतों की फसल जो बटाई उठाये जायँ, आधी आधी हो तथा

उन खेतों की पैदावार में, जो आशाराम खुद करें, नन्दकुमार का आधा हिस्सा हो।

जो अनाज घर में पड़ा है वह आधा आधा हो, वगैर इस बात का ख्याल किये कि कौन से खेत बटाई उठे थे अथवा कौन से खुद किये गये थे?

सब अनाज बँट गया। आशाराम की आँखों से आँसू निकल रहे थे। उन्हें वह दिन याद आ रहा था, जब वे बीमार थे, बोनो का समय था, खेत जुते नही थे। मजदूर मिल नहीं रहे थे, नन्दकुमार को खेती के बारे में कोई फिक्र न थी। उस समय किस भाँति लल्लो-चप्पो कर उनकी स्त्री ने खेतों में दाने बिखरवा पाये थे। फिर किस भाँति अंडे की तरह देखरेख के पश्चात् चार दाने घर आये थे, लेकिन उनके भी उपभोग पर प्रतिबन्ध लग गया। अब उन्हें नन्दकुमार की आमदनी पर कोई अधिकार नहीं होगा। नन्दकुमार अपना खाने पीने का सामान दे दिया करेंगे, उनका खाना बना देना होगा।

फिर उनके कानों में मानों वह वाक्य गूँज गया जब उन्होंने परमेश्वरी दयाल से कहा था—'एक आत्मा के दो प्रतीक अलग अलग हो जायँ—यह मृत्यु के बाद ही सम्भव होगा।'